मूल्य—आठ आने

मुद्रक —
नवयुवक प्रेस,
३, कमर्शियल बिल्डिगस्
कलकत्ता

विषय-सूचि

पृष्ठ

रेखाचित्र

—०००—

प्राक्कथन

सम्वत् १९९३ में बम्बई में हुए पर्युषण के व्याख्यानों की पुस्तिका की भूमिका में श्रद्धेय पंडित सुखलालजी ने व्याख्यानमाला की उपयोगिता और उसके प्रति बढ़ती हुई लोक-रुचि का वर्णन करते हुए यह भी लिखा कि "कलकत्ता जैसे शहरों में युवक लोग व्याख्यानमाला शुरू करने के विषय में विचार करें, इसमें तो देरी ही हो रही है, ऐसा समझना चाहिये।" पंडितजी के इन शब्दों में कलकत्ता के युवकों की प्रेरणा और उत्साह को आमन्त्रण था, परन्तु उसकी तरफ कलकत्ता के युवकों का ध्यान नहीं गया। मै उस साल बनारस से अपना अध्ययन समाप्त कर कलकत्ता आया ही था। इसलिये इच्छा होते हुए भी मेरे लिये तो पंडितजी के आमन्त्रण को स्वीकार करना उस समय अशक्य ही था। परन्तु यह कल्पना तो उसी समय से मेरे मन में बराबर उठती रही कि कलकत्ता में भी पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला की शुरूआत की जाय। मौके मौके पर अन्य मित्रों से भी मैं अपनी यह इच्छा

जाहिर करता रहा, और उनसे सहयोग की प्रार्थना भी करता रहा। हर वर्ष ज्यों ज्यों पर्युषण पर्व निकट आता, त्यों त्यों मेरी इच्छा व्याख्यानमाला का निश्चय कर डालने के लिये बलवती होती। और अब तक कलकत्ता के जैन समाज के सार्वजनिक कार्यों में मैं थोडा-बहुत भाग भी लेने लग ही गया था। इस बीच में पूज्य पडित से जब कभी मिलना होता, तो इस क्रम को शुरू करने के बारे में उनसे और भी प्रेरणा मिलती। पडित बेचरदासजी ने भी अपने दो-एक पत्रों मे इस आवश्यकता की तरफ ध्यान खींचा। परन्तु तीन वर्ष योंही निकल गये।

जुलाई सन् १९४० में कुछ मित्रों ने मिल कर 'तरुण जैन सघ' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य रखा गया—"समाज के उन सार्वजनिक सेवा की रुचि और भावना वाले नवयुवकों का सगठन करना जो सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रगतिशील विचारों के समर्थक हों, तथा जो विना किसी जातीय अथवा सांप्रदायिक भेदभाव के जैन समाज मे प्रगतिशील विचारों के प्रसार द्वारा क्रांति उत्पन्न करने की नीति में विश्वास रखते हों।" इस सघ की स्थापना होते ही मेरे ध्यान में फिर दो महीने बाद ही आने वाले पर्युषण पर्व का खयाल आया, और वर्षो से इकट्ठी हुई प्रेरणा के साथ 'पर्युपण पर्व व्याख्यानमाला' का आयोजन करने की इच्छा अपने आप सघ के सदस्यो के सामने प्रकट हो गई। और मित्रो ने उसे स्वीकार करते देर न लगाई। निश्चय तो हमने कर लिया किन्तु पहले का कुछ भी

अनुभव न होने के कारण और समाज के अधिकांश लोगों की नवीनता-विरोधी मनोवृत्ति को जानते हुए, शुरू शुरू में हमें थोडी घबराहट सी हुई। हमने यह निश्चय किया कि जिन लोगों को पर्युषण पर्व के धर्म-कार्यों की चालू परम्परा में रस नहीं आता, जो उसमें भाग न लेने की इच्छा से घर पर ही बैठे रहते हैं, उनके उपयोग के लिये किसी एक सुविधाजनक छोटी सी जगह में व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाय। लेकिन जब वक्ताओं के चुनाव का सवाल आया, तब तो और भी कठिनाई आई क्योंकि कलकत्ता के जैन समाज में योग्य और समर्थ विद्वानों और विचारकों की सख्या परिमित ही है। स्थानीय जैनेतर विद्वानों के नाम तो हमने चुने ही, पर चूँकि जैन समाज के विद्वानों को बुलाने की तरफ भी हम ने विशेष लक्ष्य रखा था, इसलिये बाहर से कुछ विद्वानों को बुलाने की चेष्टा करने का भी निश्चय हुआ। इसी छोटी सी कल्पना के साथ हमने व्याख्यानमाला के आयोजन की रूप-रेखा बनाई थी। पर, ज्यों ज्यों हमारे निश्चय की खबर समाज में फैलने लगी, त्यों त्यों उसके प्रति लोगों की रुचि और उत्सुकता देख कर हमारा उत्साह बढ़ता गया, और उसी समय से हमें व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता नजर आने लगी। सर्व श्री प० सुखलालजी, किशोरलालजी घ० मशरूवाला, काका साहब कालेलकर, प० बेचरदासजी, महात्मा भगवानदीन, प० दरबारीलालजी, और जैनेन्द्रकुमारजी आदि मुख्य मुख्य जैन व जैनेतर विद्वानों को व्याख्यान-माला में आकर प्रवचन करने के लिये निमन्त्रण भेज दिया। और जब

सिवाय श्री किशोरलाल भाई और प० वेचरदासजी के सभी विद्वानो ने हमारा आग्रह स्वीकार कर लिया, तब तो हमारे उत्साह की सीमा ही न रही। श्रद्धेय काका साहब के इन शब्दों ने तो जैसे हमारे उत्साह के चार चांद ही लगा दिये —

"बम्बई मे जो पर्युषण-व्याख्यानमालाएँ चलती हैं, उनका असर बहुत ही अच्छा हो रहा है। श्री परमानन्द भाई और प० सुखलाल जी की वह एक सफल प्रवृत्ति है। धर्मप्रेमी लोगों में रूढि की दासना होती है। रूढ़ि तोड़ते धर्म-प्रेम भी क्षीण हो जाता है। बम्बई की पर्युषण-व्याख्यानमाला से धर्म-निष्ठा बढे, और साथ साथ उदारता, व्यापकता और बुद्धि-निष्ठा भी आ जाय, ऐसा वायुमण्डल पैदा हो रहा है। कलकत्ता मे वैसी प्रवृत्ति चलाने का आपने ठाना है, यह अभिनन्दनीय बात है।"

ऊपरोक्त विद्वानो से कलकत्ता आने की स्वीकृति मिल जाने पर व्याख्यानमाला की हमारी शुरु की कल्पना तो जैसे कुछ भी नहीं रही, और पूज्य पंडित सुखलालजी की इस सूचना के बावजूद भी कि "बम्बई आदि में जैसा जन-प्रवाह है, कदाच कलकत्ते में वैसा न भी हो क्योंकि कलकत्ते में उतनी और वैसी शिक्षा देखी नहीं जाती और फेंट का अंश भी शायद अधिक हो, जो परस्पर मिलने से रोकता है", हमें कलकत्ता का जन-प्रवाह व्याख्यान-माला के आयोजन की सूचना से आकर्षित हुआ मालूम पड़ा और

वाद में व्याख्यानों के दिनों में जो जैन और जैनेतर श्रोताओं की अपार भीड देखी गई, उससे हमारी यह धारणा सच्ची भी सिद्ध हुई।

'पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला' की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में मै यहाँ कुछ भी कहना नहीं चाहता क्योंकि मैं अपने आप को उसके लिये पूरा अधिकारी नहीं समझता। इस कमी को पूरी करने के लिये. इस प्राक्कथन के वाद ही प० सुखलालजी, जिन्होंने ही व्याख्यानमाला का क्रम चलाया है, का एक वक्तव्य छाप रहे है। पाठक उससे देख सकेंगे कि व्याख्यानमाला चलाने का उद्देश्य क्या है। वम्बई में गत ६-७ वर्षों से यह क्रम चल रहा है, और जैसा श्रद्धेय काका कालेलकर के उक्त शब्दों से प्रकट है, उससे वडा लाभ हुआ है। और अब तो कलकत्ते के समाज को स्वय इस क्रम की उपयोगिता मालूम हो चुकी है। हमें तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि या तो इस व्याख्यानमाला के क्रम का स्थान स्थान पर प्रचार होगा जिससे युवक-मानस को स्पर्श करने वाली विचारधारा के विकास द्वारा धर्म-निष्ठा का पोषण और विकास होगा, अन्यथा युवक पर्युषण पर्व की चालू परम्परा को वाहियात समझ कर उससे मुख ही मोड़ लेंगे। क्योंकि जिस धर्म में समयानुकूलता नहीं होती, उसके प्रति शुद्ध जन-निष्ठा कायम नहीं रह सकती। इसलिये या तो युवकों में धर्म-निष्ठा जागृत रखने और विकसित करने के लिये इस क्रम का विस्तार करना होगा, अथवा पुरानी परम्परा की रक्षा (!) के लिये विनाश को ही बुलाना होगा। गांधी-सेवा-सघ के भूतपूर्व

प्रमुख और प्रसिद्ध विचारक श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ने भी "देश में विचार और कर्त्तव्य की जागृति उत्पन्न करने के लिये आज इस तरह की व्याख्यानमालाओं" की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। भारत-वर्ष के विभिन्न स्थानों में रहने वाले जैन युवकों को अपने अपने स्थान पर यह क्रम जारी करना चाहिये। इससे समाज की विभिन्न सम्प्रदायों में एकता का भाव उत्पन्न होगा, स्वतंत्र विचार-शक्ति को उत्तेजन और बल मिलेगा, और साथ ही व्यापक और उदार दृष्टि का विकास होने से धर्म के नाम पर होने वाला बहुत सा ऊहापोह मिट जायगा। श्वेताम्बर, दिगम्बर, और सम्वेगी, स्थानक-वासी एव तेरापथी आदि सम्प्रदायों के भेद-भाव को छोडकर जैन भाई-बहिनों को पर्युषणपर्व के पवित्र निवृत्तिमय दिनों में एक स्थान पर मिलने की प्रेरणा पैदा करने में यह व्याख्यानमाला बडी उपयोगी सिद्ध हुई है। और जहाँ जहाँ यह व्याख्यानमाला अपने मूल ध्येय को कायम रखते हुए चलाई जायगी, वहाँ वहाँ इस दिशा में इसकी उपयोगिता सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी।

× × × ×

यद्यपि व्याख्यानमाला में दिये हुए सारे व्याख्यानों को पुस्तकाकार छपाकर प्रकाशित करने का निर्णय उसी समय कर लिया था और उसकी घोषणा भी कर दी गई थी, परन्तु इस कार्य को पूरा करने में काफी विलम्ब हो गया जिसके लिये पाठकों से क्षमा मांगने के अतिरिक्त और हम कर ही क्या सकते हैं। खास तौर से हमें उन

वक्ताओं से क्षमा-याचना करनी है जिन्होंने हमारी सूचना के अनुसार उसी समय पुस्तक का अग्रिम मूल्य भी जमा करा दिया था। आशा है, देरी होने के कारण जानकर वे भी हमें क्षमा करेंगे। देरी होने का एक मात्र कारण यही हुआ कि कई वक्ताओं से लिखे हुए व्याख्यान मिलने में बहुत विलम्ब हो गया। पुस्तक के प्रकाशन में देरी होने की बात अवश्य खटकने जैसी थी, परन्तु सभी वक्ताओं के व्याख्यानों का संग्रह करने का लोभ भी हम संवरण न कर सके। इस लोभ के वशीभूत होकर ही हमने इतनी देरी हो जाने दी। श्री काका साहब और श्री जैनेन्द्रकुमारजी के व्याख्यानों के लिये काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर चूंकि उनके व्याख्यान इतने महत्व के थे कि किसी तरह से उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। हमें सतोष है कि इस देरी के कारण व्याख्यानमाला के पाठकों को जितनी प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके बदले उनको पूरा पूरा लाभ इस रूप में मिल जायगा कि एक व्याख्यान को छोड कर अब इस पुस्तक में सभी व्याख्यान आ गये हैं। इस तरह हमारी समझ में पाठकों को देरी का पूरा पूरा एवजा मिल गया है। छपे हुए व्याख्यानों के विषय में इतना और जान लेने का है कि चूंकि वक्ताओं ने व्याख्यान बाद में लिखकर भेजे हैं, इसलिये सम्भव है कि बोलते समय जो कुछ कहा गया होगा, उसकी अपेक्षा इनमें कमी-बेशी हो गई हो। पर व्याख्यानों के विषय और विचारों में कोई फरक नहीं पड़ा है।

ये व्याख्यान कितने महत्वपूर्ण हैं, इसका विवेचन करने की मुझे जरूरत ही नहीं है। पाठक स्वयं ही जब इनको पढ़ेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि प्रत्येक वक्ता के भाषण में वाचन, चिंतन और अनुभव की कितनी गहरी विचार-सामग्री भरी हुई है। अनेक वक्ता तो अपनी विद्वत्ता और विचारशीलता के लिये भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध है। ऐसे लोगों के व्याख्यानों के सम्बन्ध में मै कुछ भी चर्चा करूँ, वह अनधिकार चेष्टा ही तो होगी। पर इतना तो स्पष्ट है कि जिज्ञासु पाठकों को इन व्याख्यानों में जीवन-शोधन को उत्तेजन देनेवाले विचारों की अपूर्व सामग्री मिलेगी।

यद्यपि पर्युषण वैसे जैनियों का ही खास पर्व है, परन्तु इस व्याख्यान-माला में तो जैनेतर वक्ताओं के भाषण भी सग्रहित है। इसलिये इस पुस्तक का प्रचार जैन समाज तक सीमित न रह कर सर्व साधारण में भी होगा। सर्व श्री काका साहब कालेलकर, डा० कालीदास नाग, सतीश-चद्र दासगुप्त आदि विद्वानों के भाषणों का इसमें होना कोई साधारण विशेषता नहीं है। हमारी आशा है कि जिस तरह इन सब विद्वानों के नाम से व्याख्यान सुनने के लिये जैन और जैनेतर लोगों की कई हजारों की सख्या में उपस्थिति होती थी, उसी तरह इस पुस्तक के पाठकों की सख्या भी हजारों की होगी। जिनको व्याख्यानों के श्रवण की सुविधा नहीं हुई थी, उन्हें घर बैठे यह व्याख्यान मिल जावेंगे, और जिन्होंने श्रवण किया था, उन्हे अधिक धैर्यपूर्वक चिंतन और मनन करने का अवसर मिलेगा। यही इस पुस्तक को प्रकाशित करने का उद्देश्य है।

व्याख्यानमाला के समय उपस्थित होनेवाले जैन श्रोताओं के लिये कई वक्ताओं के दृष्टि-बिंदु बिलकुल नये होने के कारण उनके मन में कई तरह की जिज्ञासा और शंकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिये व्याख्यानमाला के शुरू में ही श्रोताओं से यह निवेदन कर दिया गया था कि किसी भी वक्ता के भाषण के किसी मुद्दे पर अगर किसी सज्जन को किसी भांति की शंका हो तो वह व्याख्यान के बाद उस वक्ता से मिल कर चर्चा द्वारा उस बात को समझ ले। हमे प्रसन्नता है कि व्याख्यानमाला में आनेवाले श्रोताओं ने शांति और धैर्यपूर्वक इस सूचना का पालन किया। सिर्फ श्री काका साहब कालेलकर के 'अहिंसा और विश्वविप्लव' शीर्षक व्याख्यान में जब महात्माजी के 'बछड़ा-वध प्रकरण' का समर्थन किया गया, तो श्रोताओं में से दो-चार सज्जनों में उत्तेजना आ गई और उन्होंने व्याख्यान-मंडप में ही चर्चा करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु दूसरे दिन श्री काका साहब के यह कह देने पर—कि इस विषय में चाहिये उतना वे नहीं कह सके थे, इसलिये कुछ विशेष खुलासा की जरूरत थी—कोई विशेष ऊहापोह नहीं रहा। श्री काका साहब ने कहा कि वे लिखित रूप में बाद में उसकी चर्चा कर के अपनी बात को समझाने की चेष्टा करेंगे, और उस पर अगर कोई प्रश्न पूछा जायगा तो उसका उत्तर भी देंगे। अब श्री काका साहब ने हमे सूचित किया है कि 'जीवन-साहित्य' नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक पत्र में उन्होंने 'बछड़ा-प्रकरण' के सम्बन्ध में कही हुई अपनी बात का खुलासा किया है।

हम उस पत्र का आवश्यक अंश इस पुस्तक के अन्त में श्री काका साहब की इजाजत से छाप रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम पूज्य पंडित सुखलालजी के शब्दों को दोहराते हुए यह कहना चाहते हैं कि, "पर्युषण की पवित्रता इसी मे नही है कि दूसरा आदमी भी हमारी इच्छा अथवा मान्यता के अनुसार ही बोले, लिखे, या वर्तन करे, परन्तु हमारी श्रद्धा और इच्छा के विरुद्ध प्रसंग में भी हमारी उदारता कायम रहे, इसी में वह पवित्रता रहती है।" पर्युषणपर्व के पवित्र दिनों में तो हमें इतनी उदारता रखनी ही चाहिये।

इस निवेदन को मैं उन बन्धुओं को धन्यवाद दिये विना समाप्त नहीं कर सकता जिनके सहयोग से व्याख्यानमाला का यह प्रथम आयोजन आशातीत सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। 'तरुण जैन संघ' के सदस्यों के अतिरिक्त स्थानीय जैन सभा के युवकों ने व्याख्यानमाला के समय इकट्ठी होनेवाली हजारों श्रोताओं की भीड में उचित व्यवस्था करने मे जिस तत्परता और योग्यता का परिचय दिया, वह प्रशंसनीय थी। मैं उन सज्जनों को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर श्री विजयेन्द्रसूरिजी महाराज के व्याख्यान के लिये निर्मित पंडाल व्याख्यानमाला के लिये देने की उदारता प्रदर्शित की। और कलकत्ता के तथा वर्धा, वनारस और दिल्ली आदि दूर के स्थानों से आए हुए विद्वान वक्ताओं के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना भी मैं अपना फर्ज समझता हूं। अनेक कष्ट उठा कर भी कलकत्ता आकर और अपना वहुमूल्य समय प्रदान कर

हमारे प्रति उन्होंने जो कृपा की, उसके लिये हम सदैव उनके आभारी रहेंगे। इसके साथ साथ उन सज्जनों के प्रति भी आभार प्रकट करना मैं कैसे भूल सकता हूँ, जिन्होंने व्याख्यानमाला की उपयोगिता समझ कर उदारतापूर्वक हमें आर्थिक सहायता प्रदान की। और अन्तिम, किन्तु सब से जरूरी, धन्यवाद के पात्र हैं—श्रोतागण जिन्होंने प्रतिदिन व्याख्यानों में उपस्थित होकर व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता में योगदान दिया। मैं इन सब लोगों के प्रति पुन. एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी इसी प्रकार 'तरुण जैन सघ' को उनका सहयोग मिलता रहेगा।

व्याख्यानमाला का क्रम तो प्रति वर्ष चला ही करेगा, इसलिये जैन समाज के नवयुवकों से मेरा अनुरोध है कि अपना अधिकाधिक सहयोग प्रदान कर इस क्रम को अधिक आकर्षक, अधिक व्यापक और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करें। आज समाज और धर्म की प्रगति का पाया नवयुवकों पर ही ठहरा हुआ है, अतएव यदि वे अपने कर्तव्य-पालन में थोड़ी सी भी ढीलाई करेंगे तो उसके सब से कडुए फल उन्हें ही भोगने पडेंगे। 'तरुण जैन संघ' ने व्याख्यानमाला का जो यह क्रम शुरू किया है, उसमें यदि श्वेताम्बर, दिगम्बर, सवेगी, स्थानकवासी तेरापथी, बंगाल, मारवाड, थली और गुजरात आदि सभी प्रांतों के कलकत्ता स्थित युवकों का उदार और व्यापक दृष्टि को अपनाने वाला बुद्धिशाली वर्ग पूरा पूरा सहयोग और सहकार प्रदान करे, जिसका कि हमें पूरा विश्वास है, तो हम समाज, धर्म और राष्ट्र की एक अत्यन्त

वाञ्छनीय सेवा कर सकेंगे। समाज और धर्म के चारों तरफ फैले हुए जिस वातावरण से आज निराशा-सी हो रही है उसके स्थान पर हम देखेंगे—सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता की वृद्धि, सेवा और कर्तव्य की कल्याण-प्रद भावना का प्रकाश, तथा उदार, स्वतन्त्र और व्यापक जीवन-दृष्टि का विस्तार। आशा है, सब के सहयोग से हमारी यह मंगल-कामना सफल होगी।

भँवरमल सिंघी
मन्त्री
'तरुण जैन संघ'

पर्युषण-व्याख्यानमाला किस लिए ?
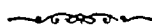
इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य गुरु-पद प्राप्त करने या किसी के वास्तविक गुरु-पद का विनाश करने का नहीं है। उसी तरह इसका उद्देश्य पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने या अर्थ-प्राप्ति करने का भी नहीं है। जो लोग श्रद्धालु हैं, और आदर-भक्ति से पर्युषण की चलती परम्परा मे रस लेते हैं, उन्हें क्रिया-काण्ड मे से अथवा व्याख्यान-श्रवण से पराङ्मुख करने का भी इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य नहीं है। तब इसका उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को दृष्टि से, राष्ट्रीय दृष्टि से और समाज तथा कुटुम्ब की दृष्टि से कितने ही ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये हैं और होते जाते हैं, जो किसी भी तरह बिलकुल उपेक्षणीय नहीं हैं और उनका धर्म के साथ कोई भी सम्बन्ध न हो, ऐसी भी बात नहीं है। इसलिए व्यावहारिक तथा धार्मिक दृष्टि से उन प्रश्नों की चर्चा करना जरूरी है। दूसरों की जरा भी परवाह किये बिना अपना तंत्र चलाने वाले किसी एकाकी पूंजीपति जैन व्यापारी को कोई राष्ट्र-सेवक जा कर नम्र शब्दों मे कहे कि "आप स्वदेशी कपड़े पहनिए! और कोई बाधा न हो, तो

खादी का ही व्यवहार कीजिए। यह कांग्रेस का फरमान है। और जैन धर्म भी पहले पडोसी धर्म का अभ्यास करने के बाद ही विश्वधर्मी होने की शक्यता बतलाता है।" यह सुन कर उस पूंजीपति जैन के लिए भी राष्ट्रीय और धार्मिक दृष्टि से स्वदेशी वस्तु के विषय मे विचार या निर्णय करना आवश्यक हो जाता है। वैसे ही सोचिये कि एक भाई बहुत शान्त और वयोवृद्ध हैं। उनकी विधवा लघु पुत्री, भगिनी या पुत्र-वधू ने कुछ भूल की और उस भूल के परिणाम स्वरूप वह धर्म-संकट मे पडी हुई है। ऐसी हालत मे, वह भाई चाहे जितना शान्त, अलिप्त और जगत से विरक्त रहने के लिये प्रयत्न करने वाला हो, उस समय तो उसे धार्मिक दृष्टि से उस सामाजिक प्रश्न का हल करना होगा। वह गर्भ हत्या होने देगा या प्रसूति-गृह मे उस बहिन को भेज कर दोनों जीवों को बचा लेगा या असाधारण साहस दिखा कर, यदि उस बहिन की इच्छा हो तो, पुनर्लग्न होने देगा? यह एक जटिल प्रश्न है। किसी विधवा ने बडों को पूछे बिना ही चुपचाप पुनर्लग्न कर लिया हो तो सामाजिक निंदा के भय से उसके आप्तजन (बडे-बूढ़े) उसे दुत्कारपूर्वक बाहर निकालने में धर्म मानेंगे या उसे प्रेम-पूर्वक अपनाने में? यह प्रश्न भी उपस्थित होगा। पिता पर-देश-गमन और अंग्रेजी शिक्षा से चाहे जितना विरुद्ध हो, पर बालक और बालिकाएँ यदि उस मार्ग का अवलम्बन कर

लेते हों तो क्या पिता उनका त्याग करेगा या उन्हे अपनाकर उनमे किसी भी प्रकार का दोष प्रवेश नहीं होवे, इतनी ही संभाल रखेगा ? यह भी धार्मिक और शिक्षा की दृष्टि से एक प्रश्न है। जहाँ एक ओर किसी भी प्रकार का सामूहिक या धार्मिक द्रव्य किसी न किसी स्थान पर जमा है, और कदाचित् धीरे धीरे बरबाद भी हो रहा है, वहाँ यदि कोई असाधारण राष्ट्रीय आवश्यकता महसूस होने पर या आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामाजिक विप्लव के आरम्भ होने पर या धार्मिक गुरुओं को अधिक परिमाण मे शिक्षित करने की आवश्यकता प्रतीत होने पर कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि उस अमानत स्वरूप पड़ी हुई रकम का इन कार्यों में उपयोग कर सकते हैं या नहीं ? यदि नहीं कर सकते है, तो क्यों और कर सकते हैं, तो किस शर्त पर ? ये सभी प्रश्न यदि आज मौजूद नहीं भी हों, तो कल तो आने ही वाले हैं। इसलिये सारा जीवन ही आज तो इन सभी प्रश्नों का तर्क-पूर्वक समयानुकूल उत्तर चाहता है।

इसके लिए विचार-जागृति चाहिए, विविध प्रकार का वाचन और मनन चाहिए, निर्णय-शक्ति चाहिए। तरुण और वृद्ध दोनों वर्गों मे इन प्रश्नों की आज चर्चा हो रही है। हाईस्कूल और कालेज के तरुण छात्रों, वकीलों, डाक्टरों, प्रोफेसरों और अन्य शिक्षित लोगों के मानस मे जब तब ये

प्रश्न उठते ही रहते हैं। इन लोगों मे बहुत से तो इन प्रश्नों का निराकरण परम्परा से चली आई हुई धार्मिक दृष्टि से करना चाहते हैं, पर इन विचार-प्रेमियों मे एक वर्ग ऐसा भी है जिसे पर्युषण की चालू परम्परा मे रस नहीं आता, इसलिए वह इन पुण्य-दिवसों में प्राप्त हुए समय का उपयोग या तो बातचीत में, या इधर-उधर भटकने मे अथवा अनावश्यक और अव्यवस्थित तर्क-वितर्क मे करता है। इसके बदले उन्हे विचार करने की, विचार सुनने की और निर्णय करने की सुविधा दी जाय तो वे कदाचित् क्रिया-काण्ड की दृष्टि से नहीं, तो भी विचार और सदाचार की दृष्टि से तो जैन बने रहेंगे ही।

जमाना जब विचार-जागृति और ज्ञान के वातावरण के लिए उत्सुक हो, तब योग्य रूप से उस उत्सुकता को पूर्ण करने मे ही कल्याण है। इसलिए वास्तव में यह व्याख्यानमाला पर्युषण की जो परम्परा चली आ रही है, उसकी सामयिक पूर्ति मात्र है। अधिक अच्छा और योग्य कार्य तो तब होगा कि जब धर्मगुरु खुद धर्म-स्थानों में इन सभी प्रश्नों पर विचार पूर्वक और उदारता पूर्वक असाधारण प्रकाश डालेंगे। वह समय जल्दी आवे, इसीलिये यह व्याख्यानमाला है। जब चारो ओर जिज्ञासा, ज्ञान और विविध तरह के विचारो का वातावरण पैदा होगा, तब आचार्य महाराजों के लिए भी इस भूमिका पर आना सरल हो जायगा, कारण कि वे जिन धर्मस्थानों मे रहते हैं, वहाँ प्रकाश बहुत ही धीरे धीरे प्रवेश करता है। इसलिये ऐसी व्याख्यानमालाएँ केवल जिज्ञासुओ को ज्ञान की सीढी पर चढाने के लिये ही हैं।

—पंडित सुखलालजी

पर्युषणापर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

सन् १६४० का

संक्षिप्त कार्य-विवरण

ता० २६ अगस्त से ४ सितम्बर सन् १६४० तक सात दिनों के लिये इस व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था। ये व्याख्यान नित्य शाम को ७॥ बजे से ६॥ बजे तक कालाकर स्ट्रीट मे प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर निर्मित पंडाल मे हुए, जहाँ पर हजारों श्रोताओं की इतनी भीड़ जमा होती थी कि थोड़ी सी देर हो जाने पर सैकड़ों व्यक्तियों को पंडाल के भीतर खड़े रहने तक को जगह नहीं मिलती थी। इसलिये उन भाइयों को वापस लौट जाना पडता था। संतोष था तो

इतना ही कि पंडाल के वाहर भी लाउड-स्पीकरों की व्यवस्था रहने के कारण वहुत से व्यक्तियों को वाहर खड़े रहकर भी व्याख्यान-श्रवण का लाभ मिल जाता था। और सब से विशेषता की वात तो यह थी कि महिलाएँ भी वडी संख्या मे रोज उपस्थित होती थीं। उनके लिये अलग बैठने का प्रवन्ध कर दिया गया था।

सारे सप्ताह मे लोगों मे वड़ा उत्साह देखा गया। वाहर से पधारे हुए विद्वानों का कलकत्ते की और भी जैन व जैनेतर, धार्मिक, साहित्यिक और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा सन्मान व स्वागत किया गया। अनेक भाइयो ने उनके साथ वार्ता-चर्चा करके भी लाभ उठाया। व्याख्यानमाला पर वाहर से पधारे हुए विद्वानों के संयोग से विचार-शक्ति के विकास का मौका तो मिला ही, परन्तु स्थानीय जैन समाज के लाभ की सव से वडी वात जो हुई वह तो यह थी कि इस आयोजन मे जैन समाज की विभिन्न सम्प्रदायों जैसे दिगम्वर, श्वेताम्वर, स्थानकवासी, तेरापंथी और विभिन्न फिर्कों जैसे गुजराती, मारवाड़ी, आदि सभी अंगों के लोग नित्य सैकड़ो की संख्या में उपस्थित होते थे। जो एक दिन आ जाता था, वह दूसरे दिन आये विना नहीं रहता था। इस अनायास मिले हुए ऐक्य को व्याख्यानमाला के आयोजन की सव से वड़ी सफलता माननी चाहिये।

व्याख्यानमाला के क्रम की समाप्ति के दिन समाज के विभिन्न अंगों की तरफ से व्याख्यानमाला के आयोजन के लिये 'तरुण जैन संघ' के प्रति जो प्रेमोद्गार प्रकट किये गये, तथा व्याख्यानमाला से मिले हुए लाभ की जो विवेचना की गई, उससे तो यह माना जायगा कि इस तरह के आयोजन समय और रुचि के अनुकूल तथा सर्वप्रिय होते हैं। यह भावना भी प्रकट की गई कि ऐसे आयोजनों का अन्य स्थानों में भी प्रचार होना चाहिये। अब यहाँ प्रतिदिन की कार्यवाही की एक संक्षिप्त नोंध दी जाती है :—

बृहस्पतिवार, ता० २६ अगस्त सन् १६४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखरजी शास्त्री के ढाका से वापस न आ सकने के कारण श्री छोटेलालजी जैन की अध्यक्षता में कार्यवाही प्रारम्भ हुई। वयोवृद्ध श्री पूरणचन्द जी सामसुखा ने मंगलाचरण-पाठ किया; उसके बाद 'तरुण जैन संघ' के अध्यक्ष श्री सिद्धराजजी ढड्ढा ने 'तरुण जैन संघ' की स्थापना और व्याख्यानमाला के क्रम की योजना के सम्बन्ध में एक लिखित वक्तव्य पढ़ा। तत्पश्चात् 'तरुण जैन संघ' के मंत्री श्री भंवरमलजी सिंघी ने व्याख्यानमाला के कार्य-क्रम आदि के सम्बन्ध में कतिपय आवश्यक सूचनाएँ देते हुए प्रारम्भिक वक्तव्य दिया। तब बनारस

शनिवार, ता० ३१ अगस्त सन् १९४०

(समय—सुबह ९ बजे)

अपने नियमित व्याख्यान-वाचन के बाद आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने 'पर्यूषण पर्वाधिराज कर्तव्य' विषय पर व्याख्यान दिया।

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति बगाल एसेम्बली के अध्यक्ष माननीय खान बहादुर अजीजुल हक अकस्मात रुग्ण हो जाने के कारण उपस्थित नही हो सके, अत॰ श्री पूरणचन्दजी सामसुखा की अध्यक्षता में कार्यवाही सपन्न हुई। श्री रिखबचन्दजी डागा के मगलाचरण-गायन के बाद कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्राचीन इतिहास और सस्कृति के प्रख्यात प्रोफेसर डाक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट० का अग्रेजी में 'विश्व-सस्कृति में जैन धर्म का स्थान' (The Place of Jainism in world culture) विषय पर व्याख्यान हुआ। श्री भँवरमलजी सिघी ने उस भाषण का लिखित सारांश हिन्दी में सुनाया।

बाद में श्री विजयसिहजो नाहर ने कल्पसूत्र के आधार पर बने हुए महावीर स्वामी के जीवन सम्बन्धी स्लाइड्स का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् सभापतिजी ने डाक्टर नाग को और उपस्थित लोगों को धन्यवाद दे कर सभा विसर्जित की।

रविवार, ता० १ सितम्बर सन् १९४१

(समय—दोपहर मे २ बजे)

स्थानीय मारवाडी छात्र-निवास के हाल में एक सभा दिन में

दो बजे की गई थी, जिसका उद्देश्य यह था कि अगर बाहर से पधारे हुए विद्वानो से किसी को किसी तरह के प्रश्न पर चर्चा करनी हो तो उसको ऐसा करने का मौका मिल सके।

इस सभा में महात्मा भगवानदीनजी ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। उपस्थित लोगों में से कुछेक ने प्रश्न किये, जिनके सर्वश्री काका साहब कालेलकर, पडित सुखलालजी, दरबारीलालजी और जैनेन्द्रकुमारजी ने उत्तर दिये। 'सर्वज्ञत्व' के प्रश्न पर विशेष चर्चा हुई। और भी कई प्रश्नों पर उत्तर दिये गये।

(समय—सायंकाल ६ बजे)

मनोनीत सभापति आचार्य जगदीशचन्द्र चटर्जी के आने में देर होने के कारण श्री बहादुरसिंहजी सिंघी की अध्यक्षता में कार्यवाही प्रारम्भ की गई। बाद में आचार्य जगदीशचन्द्रजी के आने पर, उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया।

सर्वप्रथम श्री रिखबचन्दजी डागा ने,प्रारभिक मगलाचरण किया, जिसके बाद पडित सुखलालजी का 'जैन शास्त्रों में अहिंसा का व्यापक स्वरूप' और पडित दरबारीलालजी का 'भगवान् महावीर की अहिंसा' विषयों पर व्याख्यान हुए। पडित दरबारीलालजी का व्याख्यान इसी पुस्तक में अन्यत्र छपा है। दोनों वक्ताओं के भाषणों के बाद सभापति-पद से आचार्य जगदीशचन्द्रजी का अहिंसा के विषय पर और साथ ही जैन धर्म के अन्य मुद्दों पर सारगर्भित व्याख्यान हुआ। अन्त में सभापति को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

सोमवार, ता० २-६-४०
(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज की कार्यवाही श्री काका कालेलकर के सभापतित्व में हुई। सर्वप्रथम श्री इद्रचद दूगड़ का बगला में प्रारम्भिक गायन हुआ। बाद में श्री काका साहब ने श्रीयुक्त सतीशचद्र दासगुप्त का परिचय कराया। और उनसे भाषण देने की प्रार्थना की। तब श्री सतीश बाबू का 'अहिसा का पुनरुद्धार' विषय पर और श्री जैनेन्द्रकुमार का 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श' पर और श्रीमती हीराकुमारी देवी का 'नारी और धर्म' पर व्याख्यान हुए। उसके बाद सब लोगों को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

मंगलवार, ता० ३-६-४०
(समय— सायंकाल ७॥ बजे)

'माडर्न रिव्यू' के यशस्वी सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने आज सभापति का आसन ग्रहण किया। श्री इन्द्रचन्द दूगड़ के गायन के बाद श्री जैनेन्द्रकुमार ने श्री काका साहब का परिचय दिया। उसके बाद श्री काका साहब का 'अहिसा और विश्वविप्लव' पर अत्यन्त विचारपूर्ण भाषण हुआ। दूसरा भाषण आज पडित दरबारीलालजी का 'निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म' पर हुआ। दोनों ही व्याख्याता काफी प्रसिद्ध होने के कारण आज काफी भीड़ थी। श्री सभापतिजी ने एक सार-गर्भित भाषण दिया, जिसके बाद कार्य समाप्त हुआ।

बुधवार, ता० ४-६-४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज की कार्यवाही मनोनीत सभापति कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्राच्य इतिहास और संस्कृति के प्रधानाध्यापक डा० वेनीमाधव वरुआ की अध्यक्षता में हुई। सर्व प्रथम श्री इन्द्रचन्द दूगड़ का बंगला में एक सुमधुर गायन हुआ जिसके बाद श्री काका कालेलकर के पहले दिन के भाषण में बछड़ा-प्रसंग के बारे में प्रकट किये हुए विचारों को लेकर कुछ श्रोताओं में उत्पन्न हुए ऊहापोह के विषय में श्री भंवरमलजी सिंघी और श्री सिद्धराजजी ढड्ढा ने श्रोताओं के समक्ष यह निवेदन किया कि "प्रत्येक वक्ता को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता देने की हममें उदारता होनी चाहिये। किसी विषय में विचारों का अन्तर होना सम्भव है, और यह भी आवश्यक नहीं है कि अमुक वक्ता ने जो कहा, उसे हम स्वीकार ही करें। यह तो अपनी अपनी योग्यता और मान्यता का विषय है कि एक बात को कोई स्वीकार कर सकता है, कोई नहीं कर सकता। परन्तु उसके लिये अशांति पैदा करना तो अच्छी बात नहीं कही जा सकती।" तत्पश्चात् श्री काका साहब ने भी अपने आज के निश्चित विषय 'महावीर, बुद्ध और गांधी' पर बोलने से पहले बछडा-प्रकरण के सम्बन्ध में एक वक्तव्य दिया। तब 'महावीर, बुद्ध और गांधी, विषय पर श्री काका साहब का और 'जैन साहित्य' पर शांतिनिकेतन में हिन्दी के आचार्य श्री हजारी प्रसादजी द्विवेदी का

व्याख्यान हुआ। दोनों भाषणों के बाद सभापति डॉ० बरुआ ने जैन साहित्य और संस्कृति पर बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया।

तब 'तरुण जैन संघ' के मन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने व्याख्यान-माला के क्रम की समाप्ति पर अपना उपसंहारात्मक भाषण दिया जिस में उन्होंने व्याख्यानमाला की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए अपने समस्त सहयोगियों, व्याख्याताओं और श्रोताओं को धन्यवाद दिया और यह आशा प्रकट की कि भविष्य में जनता के सहयोग से यह क्रम और भी अधिक सफल होगा। उन्होंने अपने व्याख्यान में समाज के युवकों से इस ज्ञान-सप्ताह के बाद चारित्र्य और कर्मशक्ति के विकास की ओर ध्यान देने का अनुरोध किया। उन्होंने अहिंसा के रचनात्मक कार्यक्रम के महत्व और उपयोगिता पर भी विचार प्रकट किये।

इसके बाद श्रोताओं में से सर्वश्री गणेशलालजी नाहटा, रायबहादुर सखीचंदजी जैन आदि सज्जनों ने व्याख्यानमाला की योजना के लिये 'तरुण जैन संघ' के प्रयत्न की प्रशंसा करते हुए व्याख्यानमाला की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किये और समाज से अपील की कि इस तरह के क्रम ही आज के समय के अनुकूल हैं, और इन से धर्म की भावना और चिन्ता-शक्ति बढ़ती है, इसलिये उनको सफल बनाने में सभी को मुक्तहस्त होकर सहयोग देना चाहिये।

श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार ने बाहर से आए हुए वक्ताओं की ओर से 'तरुण जैन संघ' के मन्त्री और दूसरे सज्जनों के द्वारा प्रकट किये हुए उद्गारों का उचित जवाब दिया।

फिर उसी समय श्री गणेशलालजी नाहटा के सभापतित्व में, स्थानीय जैन सभा की ओर से बाहर से पधारे हुए विद्वानों का अभिनन्दन किया गया।

बृहस्पतिवार, ता० ५-६-४०

सुबह ७॥ बजे श्री विजयसिंहजी नाहर के 'कुमारसिंह हाल' में बाहर से आए हुए विद्वानों के साथ 'तरुण जैन संघ' के भावी कार्यक्रम के विषय में चर्चा करने के लिये कुछ नवयुवकों की एक परामर्श-सभा हुई। वहाँ सभी विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा की सच्ची साधना के लिये नवयुवकों को रचनात्मक कार्यों में ही अपनी ज्यादा शक्ति लगानी चाहिये। और 'तरुण जैन संघ' को इसी बात पर अधिक जोर देना चाहिये।

'पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला' सम्बन्धी

आय-व्यय का विवरण

आय	व्यय
६१८) चन्दे से प्राप्त हुए	१६६) बाहर से आने वाले वक्ताओं के आने-जाने का मार्ग-व्यय
	८०) लाउड स्पीकरों की व्यवस्था
	६०) बिजली—रोशनी और पंखे
	८५) छपाई और स्टेशनरी आदि
	४०॥) पबलिसीटी खर्च और वेतन आदि
	३०) पंडाल की विशेष व्यवस्था
	२१=॥ साइन क्लाथ वगैरह बनाने का खर्च
	१६॥)॥ सवारी खर्च
	३७।= पोस्टेज-तार आदि का खर्च
	१६≡॥ खुदरा खर्च
	६१२॥)॥
	५≡॥ बाकी जमा ('तरुण जैन संघ' के हिसाब में)
६१८)	६१८)

पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

(प्रथम वर्ष, सन् १६४०)

वक्ताओं का परिचय

—ooo—

पंडित सुखलालजी—आप जैन दर्शन और साहित्य के धुरंधर विद्वान तथा विचारक हैं। आजकल आप बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय मे जैन दर्शन के आचार्य है। आप ने अनेक जैन ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी अगाध विद्वत्ता का परिचय दिया है। आप की स्वतत्र पुस्तकों और लेखों मे पाडित्य के साथ साथ उदार और व्यापक विचार-दृष्टि की एक असाधारण विशेषता होती है। व्याख्यानमाला के क्रम को शुरू करने का श्रेय आप ही को है। आप बाल्यावस्था मे ही अंधे हो

गये थे, लेकिन नेत्रों का अभाव होते हुए भी आप का अध्ययन अत्यन्त विशाल, विचार अत्यन्त गम्भीर और विवेक अत्यन्त जागृत, तथा वाक्-पटुता अत्यन्त विकसित है। जैन समाज मे आपकी जोड़ का और कोई विद्वान् नहीं है।

श्री काका कालेलकर—आप भारतवर्ष के इनेगिने विचारकों में से हैं। एक प्रकाड लेखक और विचारक तो आप हैं ही, परन्तु एक सफल राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी हैं। महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित हुए विद्वानों में श्री काका साहब का ऊँचा स्थान है। हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में आप हजारों पृष्ठ लिख चुके हैं। गांधीवादी विचारों के प्रमुख मासिक पत्र 'सर्वोदय' के आप ही सम्पादक हैं। आजकल आप अपना सब से अधिक समय राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य मे लगाते हैं। आप वर्धा में रहते हैं।

पंडित दरबारीलालजी—जैन शास्त्रों के कुशल पंडित होने के साथ साथ आप एक उच्च श्रेणी के विचारक, लेखक और वक्ता भी हैं। 'जैन-जगत्' में आपने 'जैन धर्म का मर्म' शीर्षक जो लेखमाला निकाली थी, उससे तथा अन्य लेखों एवं भाषणों से आप जैन समाज मे काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आप की विचार-सरणी और विवेचन-शैली बड़ी प्रभाव-पूर्ण है। आजकल आप सर्वधर्म-समन्वय की प्रवृत्ति चलाते हैं। आप भी वर्धा मे रहते हैं।

डा० कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट०—आप प्राचीन कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान और कलकत्ता यूनिवर्सिटी मे प्रोफेसर है। एक प्रसिद्ध वक्ता होने के कारण विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और संस्कृतिक संस्थाओं से आप का सम्बन्ध है।

श्री सतीशचंद्र दासगुप्त—बंगाल मे खादी और ग्रामोद्योग सम्बन्धी रचनात्मक कार्यों की प्रसिद्ध संस्था 'खादी प्रतिष्ठान' के सस्थापक श्री सतीश बाबू एक सच्चे कर्मिष्ठ राष्ट्र-सेवक हैं। आप बंगाल केमीकल और फार्मस्युटिकल कम्पनी के प्रमुख उन्नायकों मे से एक थे। और उस कम्पनी से आप को हजारों रुपयों की आय होती थी, पर गाधीजी के प्रभाव से आप उसे छोड कर आजकल ग्रामोद्योग की प्रवृतियाँ चलाते हैं। आप गांधीजी के अहिंसात्मक विचारों के दृढ़ अनुयायी हैं। महात्माजी के सादे जीवन और गम्भीर विचारधारा का आप पर बडा असर पडा है।

श्री गगनविहारी मेहता—सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० के कलकत्ता आफिस के मैनेजर और फैडरेशन आफ इण्डियन चेम्बरर्स आफ कामर्स के वर्तमान उप-सभापति श्री गगनविहारी मेहता व्यापारिक क्षेत्र मे तो प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु आप एक विद्वान् विचारक, लेखक और वक्ता भी हैं। अँग्रेजी के आप वडे विद्वान् हैं, और उस भाषा मे आपने कई

लेख वगैरह लिखे हैं, जिनकी काफी प्रशंसा हुई है। इस पुस्तक मे छपे हुए भाषण से ही उनके विचारों की गंभीरता का पता चलता है।

महात्मा भगवानदीनजी——आप जैन समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता हैं। आप साधु-वृत्ति और निस्वार्थ सेवा-भाव वाले गम्भीर विचारक हैं। आप आजकल हिसार (पञ्जाब) मे रहते हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार——आपने छोटी उम्र मे ही अपनी कलापूर्ण रचनाओं के द्वारा हिन्दी-संसार मे उपन्यासकार और कहानी-लेखक के बतौर तो अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त किया ही है, पर आप एक मधुर वक्ता भी हैं। हिन्दी-संसार मे श्री जैनेन्द्र की विचारधारा का अपना स्थान है। हिन्दी के लेखकों मे उनका बहुत आदर और सम्मान है। आप दिल्ली में रहते हैं।

पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी——आप कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व-विख्यात 'शान्ति निकेतन' मे हिन्दी-विद्यापीठ के आचार्य हैं। हिन्दी साहित्य में आप का बडा गहरा अध्ययन है जिसका परिचय, आपने हाल ही मे प्रकाशित अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रन्थ मे दिया है। इस सिलसिले में आपने जैन-साहित्य का भी अच्छा अध्ययन

किया है। आप की कई पुस्तकें और लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका हिन्दी-संसार मे आदर हुआ है।

श्रीमती हीराकुमारी देवी—आप जियागंज निवासी श्री बुधसिहजी बोथरा की सुपुत्री हैं। लघु अवस्था मे विधवा हो जाने पर आपने अध्ययन और वाचन मे ही अपना समय लगाया है। आपने संस्कृत मे तीर्थादि परीक्षाएँ पास की हैं तथा आजकल बनारस मे पंडित सुखलालजी के पास रह कर जैन दर्शन का अध्ययन करती हैं। कलकत्ता के महिला समाज को आप से बहुत आशा है।

चित्रकार का परिचय
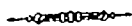
इस पुस्तक में कतिपय वक्ताओं के जो रेखा-चित्र छपे हैं, वे हमारे तरुण कलाकार श्री इन्द्रचन्द दूगड़ के बनाये हुए हैं। इनके विषय में विशेषता की बात यह है कि ये रेखाकृतियाँ चित्रकार ने व्याख्यानों के समय ही वक्ताओं के पास बैठ कर बनायी थीं। इन सफल कृतियों के लिये कलाकार को बधाइयाँ मिली हैं। हमे आशा है इनके छपने से व्याख्यानमाला की पुस्तक भी अधिक आकर्षक बनेगी।

श्री दूगड जियागंज (मुर्शिदाबाद) निवासी श्री हीराचंदजी दूगड़ के सुपुत्र हैं। चित्रकला की कोई व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त नहीं होते हुए भी श्री दूगड़ ने अपने शौक से इस कला मे जितनी योग्यता और कुशलता हासिल करली है, वह वास्तव में अभिनन्दन की बात है। उनके कई चित्रों पर पारितोपिक मिल चुके हैं। गत रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर विहार के ऐतिहासिक चित्रों के निर्माण-कार्य के लिये भारत के विभिन्न प्रान्तों से बुलाये हुए पाँच चित्रकारों मे श्री इन्द्रचन्द भी थे। श्री राजेन्द्रप्रसादजी ने इस कलाकार की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इस युवक ने चित्रकला की व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त कर कोई डिप्लोमा नहीं लिया है, पर चित्रकारी मे उन्होंने उच्च योग्यता हासिल की है।"

हमे इस तरुण कलाकार से बड़ी बड़ी आशाएँ हैं।

व्याख्यान
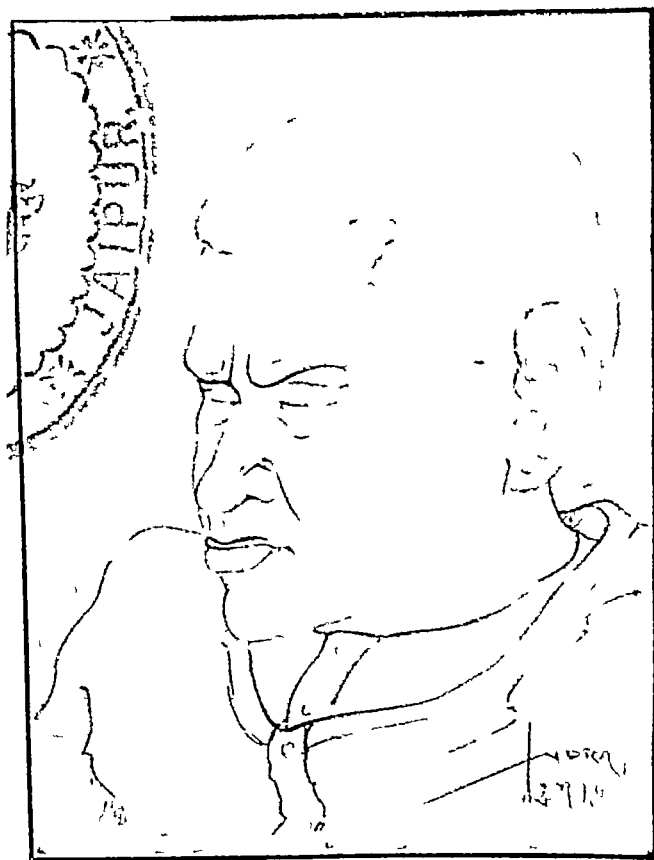
पं० सुखलालजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

पर्युषण पर्व का महत्व और उसकी उपयोगिता

[वक्ता—पंडित सुखलालजी. हिन्दू यूनीवर्सिटी. बनारस]

—⊷⊷—

त्योहारों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। प्राय. ऐसा देखा गया है कि किसी खास कारण से त्योहार का प्रारम्भ हुआ होता है और बाद मे• उसकी पुष्टि और प्रचार के समय अन्य कारण भी उसके साथ जुट जाते है। विभिन्न त्योहारों के भिन्न भिन्न कारण भले ही हों परन्तु उन सभी मे दो कारण तो सामान्य है—एक भक्ति और दूसरा आनन्द। किसी भी त्योहार के पीछे अथवा साथ मे अन्धभक्ति या सज्ञान भक्ति होती ही है। बिना भक्ति के त्योहार का

अस्तित्व रह नहीं सकता, क्योंकि उसके अस्तित्व और प्रचार का आधार जन-समुदाय होता है। इसलिए जब तक उस त्योहार के ऊपर उस जन-समुदाय की भक्ति होती है, तभी तक वह चल सकता है। इसी तरह आनन्द के बिना तो लोग किसी भी त्योहार मे रस ले ही नहीं सकते। खाना-पीना, हिलना-मिलना, गाना-बजाना, पहनना-ओढना और ठाट-बाट इत्यादि का थोडा बहुत प्रबन्ध न हो, ऐसा कोई भी सात्त्विक किंवा तामसिक त्योहार दुनिया मे कहीं भी नहीं मिल सकता।

त्योहारों के स्वरूप और उनके पीछे रही हुई भावना को देखते हुए उत्पत्ति के कारणों को लेकर त्योहारो के मुख्य दो भेद हो सकते हैं—लौकिक और लोकोत्तर, अथवा मानुषी और दैवी। जो त्योहार भय, लालच या विस्मय जैसे क्षुद्र भावों मे से उत्पन्न हुए होते है, वे साधारण भूमिका के लोगों के योग्य होने से उन्हें लौकिक या मानुषी कह सकते है। उनमे जीवन-शुद्धि या जीवन की महत्ता का भाव नहीं होता किन्तु तुच्छ वृत्ति और क्षुद्र भावना ही उनके पीछे होती है। जो त्योहार जीवन-शुद्धि की भावना मे से उत्पन्न हुए होते हैं और जीवन-शुद्धि के लिये ही प्रचलित हुए है, वे उच्च भूमिका के लोगों के लायक होने से लोकोत्तर या दैवी कहे जा सकते है।

पहाडों और जंगलों मे बसने वाली भील, संथाल आदि

जातियों मे अथवा तो शहर और गावों मे वसने वाली छारा, वाघरी जेसी जातियों मे, और कई वार तो उच्च वर्ण की माने जाने वाली सभी जातियों मे जाकर के उनके त्योहार देखे तो तुरन्त ही मालूम होगा कि उनके त्योहार भय, लालच और आश्चर्य की भावना मे से उत्पन्न हुए है। ये त्योहार अर्थ और काम, इन दो ही पुरुपार्थों की पुष्टि के लिए प्रचलित होते है। नागपंचमी, शीतला सप्तमी, गणेश चतुर्थी, दुर्गा और काली-पूजा, ये भैरव और जगदम्वा की पूजा की तरह भय-मुक्ति की भावना मे से उत्पन्न हुए है। मोलाकत, मंगलगौरी, ज्येष्ठागौरी और लक्ष्मी-पूजा इत्यादि त्योहार लालच और काम की भावना मे से उत्पन्न हुए है और इसी के आधार पर चल रहे है। सूर्य-पूजा, समुद्र-पूजा और चन्द्र-पूजा इत्यादि के साथ सम्बद्ध त्योहार विस्मय की भावना में से पैदा हुए है। सूर्य के प्रचण्ड तेज और अपार समुद्र की अनन्त उछलती हुई तरंगों को देख कर मनुष्य पहले-पहल तो दिङ्मूढ ही वन गया होगा और इसी मूढता—विस्मय मे से उनकी पूजा के उत्सव शुरू हुए होंगे।

ऐसे अर्थ तथा काम के पोषक त्योहार सर्वत्र प्रचलित होने पर भी वेधक दृष्टिवाले मनुष्यों के द्वारा प्रचलित दूसरी तरह के भी त्योहार हम देख सकते है। यहूदी, क्रिश्चियन और जरथोस्ती धर्म मे जीवन-शुद्धि की भावना मे से फलित कितने

ही त्योहार चल रहे है। इस्लाम मे खास कर के रमजान का पूरा महीना जीवन-शुद्धि की दृष्टि से ही पर्व के रूप मे चलाया गया है। इसमे मुसलमान केवल उपवास करके ही सन्तोष मान ले, इतना ही वस नहीं समझा जाता परन्तु इसके अतिरिक्त संयम को जीवन मे उतारने के लिये अन्य कितने ही पवित्र फरमान किए गए हैं। ब्रह्मचर्य पालना, सच बोलना, ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का भेदभाव छोडना, आय का २½% सेवा करने वाले छोटे छोटे कर्मचारियो के लिये और १०% संस्थाओ तथा फकीरो की रक्षा मे खर्च करना, इत्यादि जो विधान इस्लाम मे है, वे रमजान महीने की पवित्रता सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं। ब्राह्मण धर्म के त्योहार उनकी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अनेक तरह के हैं अर्थात् उनमे सभी भावनाओं वाले सभी प्रकार के त्योहार मिश्रित मालूम पड़ते है। बौद्ध त्योहार लोक-कल्याण और त्याग की भावना मे से यद्यपि पैदा हुए है, फिर भी जैन त्योहारो मे इन सव से एक खास विभिन्नता है और वह विभिन्नता यह है कि जैनों का एक भी छोटा या बडा त्योहार ऐसा नहीं है जो अर्थ या काम की भावना मे से अथवा तो भय, लालच और विस्मय की भावना मे से उत्पन्न हुआ हो या उसमे पीछे से मिली हुई ऐसी भावना का शास्त्र से समर्थन करने मे आता हो। तीर्थंकरो के किसी कल ... त्त हो या दूसरा कुछ हो, परन्तु उस निमित्त

से चलनेवाले पर्व या त्योहार का उद्देश मात्र ज्ञान और चरित्र की शुद्धि तथा पुष्टि करने का ही रखा गया है। एक दिन के या एक से अधिक दिन के लम्बे, इन दोनों प्रकार के त्योहारों के पीछे जैन परम्परा मे मात्र यही एक उद्देश रखा गया है।

लम्बे त्योहारों मे ख़ास छह अट्ठाइयाँ आती हैं। उनमे भी पर्युषण की अट्ठाई सब से श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका मुख्य कारण उसमे आने वाला सांवत्सरिक पर्व है। सावत्सरिक पर्व जैनों का सब से अधिक आदरणीय पर्व है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म की मूल भावना ही इस पर्व मे ओत-प्रोत हो गई है। जैन अर्थात् जीवन-शुद्धि का उमेदवार सांवत्सरिक पर्व के दिन जीवन मे एकत्र हुए मैल को बाहर निकालने का और पुनः वैसे मैल से बचने का निश्चय करता है। इस पर्व के दिन सभी छोटे-बड़े के साथ तादात्म्य साधने का और जिस जिससे दिल खट्टा हो गया हो उस उससे दिल साफ करने का आदेश है। जीवन मे से मैल दूर करने की घड़ी ही उसकी सर्वोत्तम धन्य घडी है और ऐसी घड़ी प्राप्त करने के लिए जिस दिन का आयोजन हुआ हो, वह दिन सब से अधिक श्रद्धेय माना जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। सांवत्सरिक पर्व को केन्द्रीभूत मान कर उसके साथ दूसरे सात दिन मिलाए गए है और ये आठों दिन आजकल पर्युषण के नाम से पुकारे जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के तीनों

फिरकों मे यह सप्ताह पर्युपण के नाम से ही विख्यात है और सामान्यत तीनों मे यह सप्ताह एक ही साथ शुरू होता है और पूरा भी होता है, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे यह पर्व आठ के वदले दस दिन का माना जाता है और पर्युषण के वदले उसे दश-लक्षणी कहा जाता है। उनका समय भी श्वेताम्बर परंपरा से भिन्न है। श्वेताम्बरों के पर्युषण समाप्त होते ही दूसरे दिन से दिगम्बरों की दस-लक्षणी शुरू होती है।

जैन धर्म के मूल मे त्याग और तप की भावना मुख्य होने से इसमे त्यागी साधुओं का पद मुख्य है और इसी से जैन धर्म के तमाम पर्वों मे साधु-पद का सम्बन्ध प्रधान होता है। सांवत्सरिक पर्व अर्थात त्यागी साधुओं के वर्षावास निश्चित करने का दिन और अन्तर्मुख होकर जीवन में से मैल दूर करने का और उसकी पवित्रता वनाए रखने के निश्चय का दिन। इस प्रकार जीवन-शोधन की दृष्टि से इस दिन का वड़ा महत्त्व है, और उसके साथ सम्वद्ध इतर दिनों का भी उतना ही महत्त्व है। इन आठ दिनों मे जैसे शक्य हो वैसे धंधा-रोजगार कम करने का, त्याग-तप अधिक करने का, ज्ञान-उदारता आदि सद्गुणों की वृद्धि का तथा जिनसे ऐहिक या पारलौकिक कल्याण हो ऐसे काम करने का लोग प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक जैन को विरासत मे ही पर्युपण के ऐसे संस्कार मिलते हैं कि उन दिनों प्रपंच से निवृत्त होकर यथाशक्य अधिक अच्छा काम करना।

इन्हीं संस्कारों के बल पर छोटा या बडा, भाई या बहन प्रत्येक पर्युषण आते ही अपनी अपनी त्याग, तप आदि की शक्ति आजमाने लगता है और चारों तरफ जहाँ देखो वहाँ जैन परम्परा में एक धार्मिक वातावरण श्रावण के बादलों की तरह घिर कर छा जाता है। ऐसे वातावरण के कारण हमे इस पर्व के दिनों मे ये बाते दिखाई देती है—(१) प्रवृत्ति कम कर के, हो सके उतनी निवृत्ति और अवकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, (२) खानपान और दूसरे कितने ही भोगों पर थोडा-बहुत अंकुश, (३) शास्त्र-श्रवण और आत्मचिन्तन की ओर झुकाव, (४) तपस्वी और त्यागियों तथा साधर्मिकों की योग्य प्रतिपत्ति—भक्ति (५) जीवों को अभयदान देने का प्रयत्न, (६) वैर, विरोध भूल कर सब के साथ सच्ची मैत्री करने और रखने की भावना।

एक तरफ परम्परा-प्राप्त ऊपर के छह प्रकार के संस्कार और दूसरी तरफ सासारिक झझटों के कारण पड़ी हुई बुरी आदते—इन दोनों के बीच संघर्ष होता है। इसलिए पर्युषण के कल्याण-साधक दिनों में भी हम यथेच्छ और यथाशक्य उपर्युक्त संस्कारों का उपयोग नहीं कर पाते और धार्मिक विषयों के साथ अपने हमेशा के संकुचित तथा वैमनस्य उत्पन्न करनेवाले कुसंस्कारों को मिला कर प्रत्येक विषय में कलह, पक्ष-विपक्ष, तू-तू, मैं-मैं और विरोधी प्रसंग खडे करते हैं। इस तरह पर्युषण के बाद जीवन को कुछ उन्नत बनाने के बदले जहाँ

थे, वहीं आकर खड़े रहते हैं और बहुत बार तो उस स्थिति में भी नीचे गिर जाते है। इसलिए आजकल पर्युषण जैसे धार्मिक दिवसों का उपयोग अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास में तो होता ही नहीं है परन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी हम उनका कुछ भी उपयोग नहीं कर पाते। हमारी सर्व-साधारण की भूमिका व्यावहारिक है। हम गृहस्थ होने से अपना सम्पूर्ण जीवन ही बहिर्मुख व्यतीत करते हैं, इसलिए आध्यात्मिक जीवन को तो छूने में भी असमर्थ हैं। परन्तु जिस प्रकार का जीवन-विकास हम चाहते हैं और प्रयत्न करने पर जिसे प्राप्त कर सकते हैं, उस प्रकार के अर्थात् सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को हमने तुच्छ और व्यर्थ सा मान रखा है और इस तरह किसी तरह की योग्यता के बिना ही मुंह में जीभ है, इसलिए बका करते हैं कि जीवन तो आध्यात्मिक ही सच्चा है। ऐसी योग्यता-विहीन समझ से न तो आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है और न सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन ही सुधरता है। इसलिये हमें अपनी सुन्दर धार्मिक विरासत का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिस से अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का सुधार हो और यदि आन्तरिक योग्यता हो तो आध्यात्मिक जीवन के ऊपर भी उसका अच्छा असर पड़े। पर्युषण पर्व का इस प्रकार से उपयोग करने के लिये दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता है—

(१) एक तो यह कि जैन धर्म ने अपनी विशिष्ट परम्परा के रूप मे कौन कौन से तत्त्व हमे दिए हैं और उनका सामाजिक तथा राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से किस प्रकार उपयोग हो सकता है, यह समझना और (२) दूसरे यह कि पर्युपण की निवृत्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिससे अपने को, अपने पड़ोसी भाइयों को तथा अपने देश-बन्धुओं को लाभ हो और अपने सामाजिक जीवन की जनता मे तथा राज्य मे प्रतिष्ठा हो। अपन हँसते चेहरे सब के आगे खड़े रह सके और अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए सदभिमान ले सकें। इसी कारण से हमने पर्युषण का उपयोग करने की पद्धति बदली है।

अपने मे मुख्य दो वर्ग है। एक ऐसा है कि उसे नया क्या है, पुराना क्या है, मूल तत्त्व क्या है, इन की कुछ भी खबर नहीं है, उसको तो जो रूढिया जीवन मे मिली हैं, वे ही उसका सर्वस्व है। अपनी रूढिगत परम्परा के बाहर नजर डालने में और अपने संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे के संस्कारों की ओर देखने मे भी उसे कोई अपराध हो रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। उसका जो अपना है, उसके अतिरिक्त कोई भी सस्कार कोई भी भाषा और कोई भी विचार असह्य मालूम होता है। दूसरा वर्ग ऐसा है कि उसके सामने जो कुछ आवे, वही उसे अच्छा लगता है। अपना कुछ भी नवीन सर्जन नहीं होता,

अपना कोई स्वतंत्र विचार नहीं होता, उसका अपना कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता। केवल जिस तरफ लोग झुकते है, उसी तरफ वह वर्ग भी झुक जाता है। इससे परिणाम यही होता है कि समाज के इन दोनो वर्गों से अपने धर्म के विशिष्ट तत्त्वों का व्यापक और अच्छा उपयोग नहीं होता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि लोगों मे ज्ञान और उदारता का विकास हो, ऐसी शिक्षा दी जाय। इसीलिये परम्परा से होने वाले कल्पसूत्र के वाचन को न रख कर के हमने कुछ विशिष्ट विषयों पर चर्चा करना उचित समझा है। ये विषय जैन धर्म मे अथवा सर्व-धर्म मे प्राणरत हैं। इन की चर्चा हमने इस दृष्टि से करने का विचार किया है कि जिससे इन तत्त्वो का उपयोग सब क्षेत्रो मे सब अधिकारी कर सकें, और आध्यात्मिकता कायम रख कर के भी सामाजिक और राष्ट्रीय कल्याण-मार्ग का अवलम्बन ले सकें।

इस अभिनव परम्परा से डरने का कोई कारण नहीं है। इस समय प्रचलित परम्पराएँ भी कोई शाश्वत तो है ही नहीं। जिस ढंग से और जिस प्रकार का कल्पसूत्र आजकल पढा जाता है वह भी अमुक समय मे और अमुक संयोगों मे ही शुरू हुआ था। लगभग १५०० वर्ष पहले तो ऐसी लोक-सभा मे और सब के सामने कल्पसूत्र का पाठ ही नहीं होता था। वह तो केवल साधु-सभा में और वह भी अमुक कोटि के

साधु ही पढ़ सकते थे। पहले तो वह रात मे ही पढ़ा जाता था और दिन मे पाठ होने पर विशिष्ट संयोगों मे ही साधु-साध्वी भाग ले सकते थे। आनन्दपुर नगर मे ध्रुवसेन राजा के समय में चतुर्विध संघ के सामने कल्पसूत्र पढ़ने की परिस्थिति उपस्थित हुई। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने का प्रासंगिक कारण तो उस राजा के पुत्र-शोक के निवारण का था, परन्तु वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय सर्वत्र चौमासे मे ब्राह्मण सम्प्रदाय मे महाभारत, रामायण और भागवत जैसे शास्त्रों के वाचन-श्रवण की खूब प्रथा थी। जनता उस तरफ खूब झुकती थी। बौद्ध सम्प्रदाय मे भी जिन-चरित और विनय के ग्रन्थ पढे जाते थे जिनमे भगवान् बुद्धके जीवन और भिक्षुओं के आचार का वर्णन आता था। इससे जनता मे महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र सुनने की और त्यागियों के आचार जानने की उत्कट रुचि उत्पन्न हुई थी। इस रुचि को तृप्त करने के लिये बुद्धिशाली जैन आचार्यों ने ध्रुवसेन जैसे राजा की घटना के बहाने कल्पसूत्र को जन-सभा मे वाचन करना पसन्द किया। उसमे जो पहला जीवन-चरित्र नहीं था. वह बढ़ाया और केवल सामाचारी का भाग, जो साधुओं के समक्ष ही पढ़ा जाता था, गौण करके प्रारम्भ मे भगवान् महावीर का चरित्र जोड़ दिया। और सर्व-साधारण को उस समय की रुचि के अनुसार अच्छा लगे वैसे

ढंग से और वैसी भाषा मे उसका सम्पादन किया। जब लोगों मे अधिक विस्तार पूर्वक सुनने की रुचि पैदा हुई, कल्पसूत्र की लोगों मे खूब प्रतिष्ठा होने लगी और पर्युषण मे उसका सार्वजनिक वाचन नियमित हो गया तब समय के प्रवाह के साथ संयोगों के अनुसार आचार्यों ने टीकाएँ लिखीं। वे प्राकृत और संस्कृत टीकाएँ भी पढी जाने लगीं। १७ वीं शताब्दी तक की लिखी हुई और तत्कालीन विचारों से प्रतिध्वनित टीकाएँ भी एक अति प्राचीन ग्रन्थ के रूप मे पढी और सुनी जाने लगीं। अन्त मे गुजराती और हिन्दी मे भी सब का अनुवाद हुआ और आज जहा तहा वे भी पढी जाती है। यह सब अच्छा है और वह इसीलिए कि लोगों की भावना के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। कल्पसूत्र अक्षरश भगवान महावीर के समय से ही चला आ रहा है और उनके समय मे जिस तरह पढा जाता था उसी तरह आज भी पढा जाता है, ऐसा मानने की कोई भूल न करे। लोक-श्रद्धा, लोक-रुचि और उपयोगिता की दृष्टि से जो परिवर्तन होता है, वह यदि बुद्धिपूर्वक किया जाय तो लाभदायक ही होता है।

कल्पसूत्र मे और उसके वाचन की जो पद्धति आजकल प्रचलित है उसमे सभी लोग रस ले सकें, ऐसा नहीं है। उसके कारण इस प्रकार हैं—(१) वाचन और श्रवण मे इतना अधिक

समय देना पड़ता है कि मनुष्य थक जाय और श्रद्धा के कारण यदि बैठा रहे तो भी विचार करने के लिए तो अशक्त ही हो जाय। (२) निश्चित पद्धति के अनुसार शब्दों का उच्चारण और अर्थों का स्पष्टीकरण होने से तथा निश्चित समय में निश्चित भाग पूरा करना पडता है, इस कारण से भी वक्ता और श्रोता के लिए दूसरी चर्चा या दूसरी दृष्टि के अवकाश का अभाव। (३) उस वाचन के समय समाज की तथा देश की वर्तमान दशा की ओर उदार दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का अभाव और इससे समाज तथा राष्ट्र मे उपयोगी हो सके, ऐसी कल्पसूत्र मे से बातें खोज लेने की कमी। (४) श्रद्धा, भक्ति और प्रचलित रूढियों के ऊपर इतना अधिक भार दिया जाता है कि जिससे बुद्धि, तर्क और स्वतंत्र जिज्ञासा सर्वथा नष्ट हो जाय। (५) वर्तमान परिस्थिति के बारे मे एकदम अज्ञान अथवा भ्रम और आँखों के सामने बिलकुल प्रत्यक्ष और स्पष्ट घटनेवाली घटनाओं को झूठा मान कर आँखे बन्द कर लेने की वृत्ति (जो कि रूढिवादियों मे अनिवार्य है) औ भूत काल की एकमात्र मृत घटना को सजीव करने का ए तरफा प्रयत्न।

इन और इन जैसे इतर अनेक कारणों की वजह से अपन पर्युषण का कल्पसूत्र-वाचन नीरस जैसा हो गया है। इसक उद्धार करने की आवश्यकता है। वह बहुत अच्छी तरह से ह सके, ऐसे तत्त्व हमारे सामने है, यही ध्यान मे रख कर इ समय हमने हमारी दृष्टि के अनुसार परिवर्तन जाहिरा तौर शुरू किया है।

सफलता की कुञ्जी

[वक्ता-महात्मा भगवानदीनजी, हिसार]

सफलता की कुञ्जी जैसे विषय पर बोलने के लिए मेरे आपके सामने आते ही आपके मन मे यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि मैं किसी काम मे सफल हो चुका हूँ या नहीं, यानी क्या मैं कोई धनाढ्य हूँ ? या मैं किसी ऊंचे सरकारी पद पर प्रतिष्ठित हूँ ? क्या मैं सफल पहलवान हूँ या और कोई ऐसी बात मुझ मे है ? इसके उत्तर मे मैं यही कहूगा कि न मैं कोई धनाढ्य हूँ, न पहलवान और न किसी सरकारी ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित। मैं इन चीजो को सफलता का ध्येय ही नहीं मानता।
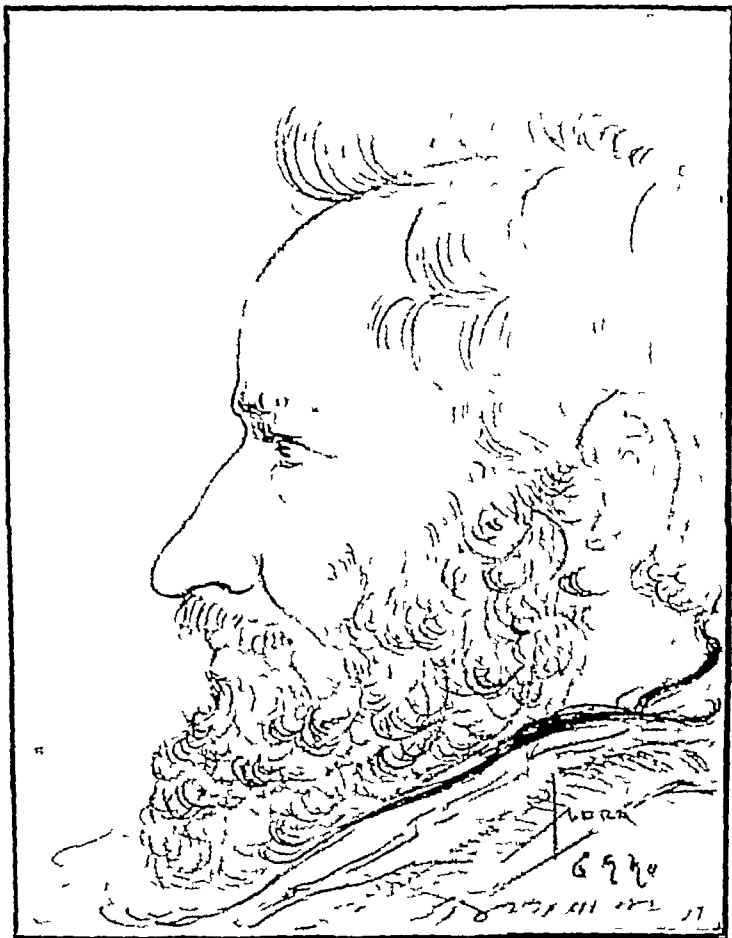
महात्मा भगवानदीनजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

मैं जिस सफलता पर बोलूंगा, वह होगी मनुष्य के भीतर छिपी हुई एक शक्ति। उसी का विकास, उसी की प्राप्ति, उसी की खोज मेरे आज के व्याख्यान का विषय होगा। हा, इसमे संदेह नहीं कि उस शक्ति को पाकर मनुष्य धनाड्य भी बन सकता है, पहलवान भी और ऊंचे से ऊंचे पद को भी पा सकता है। ये चीजें सफलता नहीं किन्तु सफलता के बाह्य रूप हैं। सफलता तो केवल मनुष्य के अन्दर निवास करने वाली एक महान शक्ति है जिसका ज्ञान होने पर मनुष्य वही हो सकता है जो वह चाहे। एक धनाड्य मनुष्य निर्धन होने पर असफल नहीं माना जा सकता, यदि उसे सफलता-शक्ति का ज्ञान हो चुका है, ठीक इसी प्रकार पहलवान दुर्बल होने पर असफल नहीं समझा जा सकता। शक्ति का एक बार ज्ञान होने पर भुलाया नहीं जा सकता, वह आजीवन उसके साथ रहेगा, उसके काम आता रहेगा और उसे प्रसन्न बनाए रखेगा।

सफलता की कुञ्जी मे सफलता और कुञ्जी का वह सम्बन्ध नहीं है जो ताले की कुञ्जी में ताले और कुञ्जी का, और वह सम्बन्ध भी नहीं है जो मकान की कुञ्जी मे मकान और कुञ्जी का परन्तु इसमें नया ही सम्बन्ध है यानी सफलता किसी कोठरी में बन्द है और उसमे ताला लगा हुआ है, उस ताले की कुञ्जी की हमे दरकार है। अब हमे यह देखना होगा कि वह ताला क्या है, कोठरी कैसी है और सफलता कहां छिपी हुई

है ? सफलता केवल ताला खोलने से न मिलेगी। दरवाजा खोलकर भी न मिलेगी, वह हमे प्राप्त होगी कोठरी तोड़ कर। अब मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपको यह बतलाऊं कि वह सफलता किस कोठरी मे बन्द है। वह मनुष्य के अन्दर ही बन्द है। उस कोठरी की दीवारें मोह या माया की बनी हुई है। वे दीवारे वंचना की ईंटो से कपट के गारे के साथ जोड़ी गई है उन दीवारो पर आभास और भ्रम का प्लास्टर लगा हुआ है। उस कोठरी का दरवाजा अहंकार के किवाडो से बन्द है, जिसमे मद के पुश्तीवान लगे हुए है; मान की कीले ठुकी हुई हैं, घमंड का पत्तर जडा है जिस पर गर्व का रोगन हो रहा है। इसी दरवाजे मे गुस्से का ताला लगा है जिसमे क्रोध का कुडा है और जिसके लीवर हैं कोप, रोष और आवेश। इतना ही नहीं पर इस कोठरी के अन्दर लोभ का बडा घना अन्धेरा है, जिस अन्धेरे की तृष्णा, स्पृहा, लिप्सा और लालसा तहे है, उस अन्धेरे मे सफलता कहीं छिपी हुई है। उसी को मनुष्य को ढूढना है। इसलिए सिर्फ ताला खोल कर दरवाजा खोलने से काम न चलेगा किन्तु सफलता पाने के लिए हमको उस कोठरी की दीवारें तोड कर अंधेरे को दूर करना होगा। तभी हम सफलता को देख सकेंगे और पा सकेंगे। पा नहीं सकेंगे किन्तु सफलता स्वयं हम से ऐसे आ चिपटेगी मानो वह मुद्दतो से हमारी बाट जोह रही हो।

सफलता और हमारे एक हो जाने पर एक जबरदस्त प्रकाश उत्पन्न होगा जिसकी रोशनी मे कोठरी की दीवारे, किवाड, ताला सब रहते हुए भी शीशे के समान पारदर्शी होकर रोक-टोक का काम न कर सकेगे। बस, ऐसी सफलता कब किसे और क्यों मिलती है, यही मेरे आज के व्याख्यान का विषय है। इन प्रश्नों का उत्तर देकर मेरा वक्तव्य समाप्त हो जायगा।

ऊपर दिए हुए कोठरी के वर्णन को थोड़े से शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गुस्सा, घमंड, मोह, और लालच यही सफलता के मार्ग मे सब से बड़े बाधक हैं। इनको वश करना ही सफलता की ओर कदम बढ़ाना है, इनके वश होकर मनुष्य अपने आपको यह समझता ही नहीं कि वह दिखाई देने वाले देह के अतिरिक्त कुछ और भी है और इसलिए इनमे से किसी एक के वश होकर वह सफलता की प्राप्ति की बात सोचे बिना अपघात के द्वारा इस देह का अन्त कर डालता है और इस तरह सफलता से और भी दूर जा पड़ता है। संसार के किसी भी क्षेत्र मे कोई भी सफल मनुष्य ऐसा नहीं खोजा जा सकता जिसने इन चारों को अपने वश में न कर लिया हो। यह कहावत ठीक ही है कि अपने को वश करना जगत को वश करना है।

सफलता की ओर कदम बढ़ाने की बात या तो उन लोगों को सूझती है जिनमें जन्म से ही गुस्सा, घमंड, मोह, लोभ, कम

होते हैं या उनको जो कभी किसी महापुरुष या अच्छी पुस्तक के सम्पर्क मे आगए हो। इन दो प्रकार के मनुष्यों मे थोड़ा सा अन्तर होता है। पहली प्रकार के मनुष्य सदा सफलता के मार्ग पर आगे ही वढते जाते हैं किन्तु दूसरी प्रकार के मनुष्य दौड़ते तो वहुत तेजी से हैं पर कभी वुरी तरह ठोकर खाकर गिर जाते हैं। फिर या तो वे कभी नहीं उठते या वहुत दिनो वाद फिर उठकर जोर लगाते हैं और इस तरह कई वार गिर-उठ कर उस तक पहुंच जाते हैं। सफलता को पा कर मनुष्य फिर नहीं गिरते।

इस गिरने-उठने की वजह से मनुष्यों की अनेको श्रेणिया हो जाती हैं। उन मनुष्यो की श्रेणी पहली मानी जा सकती है जिन्होंने कभी सफलता की ओर कदम नहीं उठाया। दूसरी श्रेणी मे वे मनुष्य आते हैं जिनमे कारण पाकर कभी सफलता की ओर वढने का जोश उत्पन्न होता है, सफलता की ओर वढने के जोश मे वे अपने गुस्से, घमंड, लोभ, मोह को कावू मे रखते हैं। जिनमे इतने जोर का गुस्सा वगैरा है कि उस गुस्से मे वे अपना अपघात कर सकते हैं, ऐसे आदमी कभी दूसरी श्रेणी मे प्रवेश नहीं करते और सदा पहली श्रेणी मे ही पड़े रहते हैं। होता असल मे यह है कि उनको इस वात का ज्ञान ही नहीं होता कि उनके अन्दर एक वड़ी जवरदस्त शक्ति छिपी हुई है, जो सव कुछ काम कर सकती है जिसको

आस्तिक लोग आत्मा-परमात्मा के नाम से पुकारा करते हैं। दूसरी श्रेणी मे इस शक्ति का विश्वास और ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

तीसरी श्रेणी मे वे मनुष्य आते हैं, जिन्हे सफलता की प्राप्ति मे सन्देह होने लगता है। उन्हें ढिलमिल-यकीन के नाम से पुकारा जा सकता है। इस तीसरी श्रेणी में होकर उन व्यक्तियों को नहीं गुजरना पड़ता जिनमे जन्म से ही गुस्सा इत्यादि कम पाया जाता है।

चौथी श्रेणी उन लोगों की है, जिन्हें एक बार सफलता की ओर पग बढ़ाने की सूझी थी पर अब वे बिल्कुल हताश हो गए हैं। और उन्हें अपने अन्दर की शक्ति का रत्ती भर भी विश्वास नहीं रह गया है। इस चौथी श्रेणी में मनुष्य कुछ क्षण ही रहता है और उसके बाद वह पहली श्रेणी में पहुंच जाता है। साधारण मनुष्यों में यही क्रम चलता रहता है। वे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी और पहली मे घूमते रहते हैं। ऐसा मनुष्य कभी नेता नहीं बन सकता, महापुरुष बनने की तो बात ही क्या ?

इन सब के बाद यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या यह जानने की कोई बाहरी पहचान भी है कि कौन मनुष्य किस श्रेणी मे है ? पहचानें हैं जरूर और वे बताई भी जायंगी पर उन पहचानों के जानने से पहले यह जरूर ख्याल रक्खा जाय

कि उन पहचानों का उपयोग दूसरों पर न किया जाकर अपने ही पर किया जाए। चरित्र की कसौटी पर दूसरो को कसना सफलता के मार्ग पर चलने वालो का काम नहीं, वे तो सदा अपने ही को कसौटी पर कसते और आगे बढते है।

कौन मनुष्य दूसरी श्रेणी मे चढ गए हैं, उनकी पहचान बताने से शेष पहली, तीसरी, चौथी श्रेणी मे रहने वाले मनुष्यों की बात अपने-आप समझ मे आ जायगी। दूसरी श्रेणी के मनुष्य मे जो बातें अपने आप दिन पर दिन बढ़ती चली जाती हैं, उनमे से एक है "निर्भयता" यानी उसका डर दिन दिन कम होता चला जाता है। इसी निर्भयता का दूसरा नाम "सन्देह-मुक्ति" भी है। सफलता के मार्ग पर चलने वाले को उसकी प्राप्ति मे कोई संदेह भी नहीं रह जाता। डर और शंका मार्ग मे अन्धेरे और झाडी-झंकार का काम करती है। इनके रहते हुए एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जिस तरह डर कर कागज फाडने से टेढा-मेढ़ा फट जाता है या जिस तरह डर कर वोतल से लेम्प मे तेल डालने से गिर जाता है, उसी तरह डर कर सफलता के मार्ग पर चलने से पाव असफलता की ओर बढ़ने लगता है। इसलिए पहली पहचान यही है कि जिन मनुष्यों मे जितना कम डर और संदेह पाया जाता है, उनको सफलता के मार्ग मे उतना ही आगे बढ़ा समझना चाहिए।

दूसरा गुण जो दूसरी श्रेणी के लोगों में देखने को मिलेगा, उसका सम्बन्ध उस लगन से है जो उनमें सफलता की ओर बढ़ने की होती है। उस लगन के कारण उनमें सफलता पाने के अतिरिक्त और किसी चीज की इच्छा रह ही नहीं जाती। वे अपने श्रम का कभी बदला नहीं चाहते, वे तीनों प्रकार के बदलों से बहुत ऊंचे उठते चले जाते हैं। उनके उस गुण का नाम 'निश्शुल्कता' रक्खा जा सकता है। तीन प्रकार के बदले होते हैं—काम के बदले काम, काम के बदले दाम, और काम के बदले इनाम। वे किसी की सेवा करके यह कभी आशा नहीं रखते कि वे उससे सेवा पायंगे और न किसी की सेवा करके वे पैसा पाने के इच्छुक होते है, वे यह भी नहीं चाहते कि जिनकी उन्होंने सेवा की है वे उनकी जा-बेजा तारीफ करें। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यह बदले सफलता के रास्ते में डर से कम खतरनाक चीजें नहीं है। वे तो सफलता की प्राप्ति को ही अपने ध्येय की प्राप्ति मानते है। वे मानसिक और आत्मिक सुख को शारीरिक सुख से कहीं बड़ा मानते हैं। उनका यह विश्वास दिन पर दिन दृढ़ होता जाता है कि मानसिक और आत्मिक सुख शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए हर तरह काफी है। इसीलिए वे शरीर की ओर बिना देखे हुए भी उसको स्वस्थ बनाए रख सकते हैं।

तीसरा गुण जो उनमे पाया जाता, वह होता है प्रसन्नता।

दूसरी श्रेणी के लोग सदैव हसमुख पाए जायंगे, उनके हँसमुख रहने का कारण साफ है। उनको सफलता की प्राप्ति मे इतना विश्वास हो जाता है कि सफलता उनको सामने दिखाई देने लगती है। वे वलपूर्वक यह कह सकते हैं कि उनका अमुक काम अमुक दिन पूरा हो जायगा। जिस तरह जंगल मे भटके हुए मनुष्य का चेहरा सीधे रास्ते पर आकर खिल उठता है, ठीक उसी तरह से अविश्वास के जंगल मे भटकते हुए विश्वास के सीधे पथ पर आने से प्रसन्नता चेहरे पर छा जाती है। सफलता-पथ के पथिक को लोक-संग्रह की आवश्यकता होती है। लोक-संग्रह के लिए प्रसन्न-वदन होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए विना प्रसन्नता के कोई मनुष्य सफलता के मार्ग मे आगे नहीं वढ सकता। यह प्रसन्नता अर्जित नहीं करनी पड़ती। गुस्से, घमंड इत्यादि को कावू मे लाने से अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। जिस तरह कच्चा आम अपने-आप पकने पर पीला हो जाता है, ठीक इसी तरह गुस्सा, घमंड इत्यादि विश्वास की गर्मी पाकर प्रसन्नता मे परिवर्तित हो जाते हैं।

चौथा गुण जो उनमे पाया जाता है, उसे 'निर्वैरता' के नाम से पुकारा जा सकता है। अव उनका कोई वैरी नहीं रह जाता। अगर कोई वैरी रह जाते हैं, तो वह होते हैं उनके दुर्गुण। सफलता के मार्ग मे अपने दुर्गुणों के अतिरिक्त दूसरे

मनुष्य या और कोई प्राणी वाधक नहीं हो सकते। यदि ऐसा होता तो संसार मे न कोई नेता बन सकता, न कोई महापुरुष। इसी 'निर्वयता' के कारण उनमे यह चार बातें पैदा हो जाती है। वे न कभी किसी की बुराई करते, न कभी किसी की बुराई सुनना पसन्द करते। वे बुराई करते जरूर है, लेकिन सिर्फ़ अपनी। वे औरों के कसूर को अपना ही कसूर मानने लग जाते हैं। वे यह खूब जानते है कि यदि एक मनुष्य महापुरुप होकर जगत को तार सकता है तो एक नीच महापापी होकर डुवो सकता है। यही कारण है कि जब जब उनके साथी गलतिया करते हैं तो वे अपने को ही उन सब का मूल कारण मानते है। वे अपने आप मियामिट्ठू नहीं वनते। और वे वन भी कैसे सकते हैं? जो दूसरों की गलती को अपनी गलती समझता है, उसे अपनी तारीफ़ करने का मौका ही कहां मिल सकता है? हा, वे दूसरे के गुणों का वखान करने मे कभी नहीं चूकते। ऊपर वताई हुई चार वातें भी उनसे अपने-आप आ जाती हैं, कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इस निर्वयता से लगा हुआ एक गुण उनमें और उत्पन्न हो जाता है। उसको रोक-थाम के नाम से पुकारा जा सकता है। इस गुण की वजह से उन्हें मार्ग मे चलने में बड़ी सुविधा होती है। उन्हें अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने की

इतनी फिक्र नहीं होती जितनी अपने साथियो को हताश न होने देने की। वे अपना बहुत सा समय उन साथियो को उत्साहित करने मे लगा देते हैं जिनको वह निरुत्साहित पाते है, उनकी भूलों को वे भूल ही नहीं मानते किन्तु उनको समझाते हैं कि यह भूले तो ऊपर चढने की सीढिया है। सफलता की यह परिभापा कि वह असफलताओं का पुञ्ज है, ऐसे ही लोगों की बनाई हुई मालूम होती है। यह परिभापा निरुत्साहित मे उत्साह फूँकने मे भंग का काम करती है। इस रोक-थाम गुण से औरो का लाभ हो या न हो, उनका अपना आत्मा खूब बल प्राप्त करता है और सफलता की मूर्ति क्षण क्षण स्पष्ट होती चली जाती है। संसार के बड़े बडे विजेताओ मे यह गुण बहुत बडे परिमाण मे पाया जाता है। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति मात्र से विपक्षी घबरा कर उनकी शरण आ जाता है। नहीं तो लाखो की संख्या मे एक व्यक्ति का मूल्य ही क्या।

ऊपर गिनाए हुए गुण जैसे और भी गुण उनमे प्रगट हो जाते हैं और इसीलिए वे अन्य मनुष्यो से पृथक किये जा सकते है और पहचाने जा सकते है। उन्हें पहचानने की जरूरत ही नहीं रह जाती। जो उन्हें पहचानने जाता है, वह उन्हे देख कर उनकी ओर इतना खिचने लगता है कि उनमे मिल जाता है और उनको अपना ही समझने लगता है। उसे

यह बात याद ही नहीं रहती कि वह उसे पहचानने आया था। अविश्वास के झंझट में फंसी दुनिया ऐसे लोगों को सिद्ध नाम से पुकारती है। जो उनसे मिलते नहीं, वे उन्हें जादूगर कहते हैं और इस तरह से अनेकों नाम से वे पुकारे जाते हैं।

धीरे धीरे ऐसे लोगों की प्रसन्नता विश्व-प्रेम का रूप धारण कर लेती है और सफलता के तत्व उनके सामने इतने साफ हो जाते हैं कि जिस तरह हाथ पर रक्खा हुआ आवला।

जब सफलता एक है, तब राजनैतिक सफलता, आर्थिक सफलता, धार्मिक सफलता के तत्व अलग अलग नहीं हो सकते। सफलता के तत्वों का जानकार क्या राजनैतिक क्षेत्र, क्या आर्थिक क्षेत्र, क्या धार्मिक क्षेत्र सब में सफल हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सफलता नाम है उस शक्ति के ज्ञान का, जो हमारे अन्दर मौजूद है। तब सफलता के तत्व भी हमको अपने अन्दर से ही प्राप्त होंगे। उनको खोजने के लिए हमें दुनियां में न घूम कर अपने अन्दर ही घूमना पड़ेगा। विचार करने से सफलता के तत्व यही हो सकते हैं—

१—हमारी शक्ति यानी हम। इसका और छोटा नाम "स्व" रक्खा जा सकता है। तब एक तत्व हुआ—स्व।

२—वह चीज जो हमारी शक्ति को नहीं जाने देती। यानी यह कि हम क्या हैं, इसका पता नहीं लगने देती। एक ही शब्द मे उसको "पर" कहा जा सकता है।

३—यह पर स्व तक कैसे आया? यानी तीसरा तत्व हो सकता है "पर का स्व तक पहुचने का रास्ता"।

४—इस पर को स्व मान बैठना। यह हुआ चौथा तत्व।

५—पर के स्व तक आने के रास्ते को रोक देना।

६—पर के स्व मानना छोड देना।

७—अपनी शक्ति को ही सफलता समझना।

राजनैतिक क्षेत्र मे अपने देशवासी "स्व" नाम से पुकारे जा सकते है। विदेशियों को "पर" नाम दिया जा सकता है। और इसी तरह शेष तत्व समझे जा सकते है।

आर्थिक क्षेत्र में अपनी पूंजी "स्व" और दूसरे की लगी हुई पूंजी "पर" कही जा सकती है और सफलता पाने के लिए इस "पर" से ही छुटकारा पाने से काम चल सकता है।

धार्मिक क्षेत्र मे यही "स्व" आत्मा बन जाता है और गुस्सा, घमंड, रोष इत्यादि कर्म "पर" कहलाते हैं। आत्मा को समझना ही धार्मिक क्षेत्र मे सफलता या मोक्ष नाम पाता है।

इन सब तत्वों को समझ कर दूसरी श्रेणी के मनुष्य तीसरी, चौथी श्रेणियों को लाघते हुए पाचवी श्रेणी मे प्रवेश करते हैं। और इसी तरह तेजी से आगे बढते हुए वे अपनी शक्ति से मिल जाते है और वे साकार सफलता बन जाते है। फिर वे जिस क्षेत्र मे भी प्रवेश करते हैं, सफल होते हैं पर अभिमान से दूर रहते हैं।

देव और पुजारी *

[वक्ता—श्री गगनविहारी मेहता, कलकत्ता]

(१)

फ्रास के प्रसिद्ध विचारक रोम्यां रोलाँ ने एक बार कहा था कि "मनुष्य-जाति ने सदियों तक ईसामसीह के आने की प्रतीक्षा की पर जब वास्तव में ईसामसीह दुनियाँ मे आया तो उसे फांसी पर लटका दिया, और अगर फिर आवे तो वे उसे फिर फांसी पर लटका देंगे।" यह बात सोचने मे तो दुःखद मालूम होती है पर वास्तव में है सच। सदियों के

* वक्ता ने अपना भाषण अंग्रेजी में लिखा था, उसका हिन्दी अनुवाद ही यहाँ दिया जाता है। —मन्त्री

धार्मिक और नैतिक विकास के बाद भी आज क्या मानव-जाति सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्शों को समझने लगी है जिनकी स्थापना मे दुनियाँ के महान पुरुषो ने अपना जीवन खपाया और मृत्यु तक का स्वागत किया। कभी कभी तो सचमुच यह शंका होने लगती है कि क्या वास्तव मे इन महान् पुरुषो के अवतार से संसार को कुछ लाभ हुआ है। आज पर्युषणपर्व के इस पवित्र सप्ताह मे सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र रूपी रत्नत्रयी धर्म के प्रचारक चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर की स्मृति को ताजा करने जब हम यहां एकत्र हुए हैं तो इस अवसर पर हमे ऐसी शंकाओ पर शान्ति से विचार करना चाहिये।

एक अंग्रेज विचारक मैथ्यू आरनोल्ड ने कहा है कि "Religion is morality touched by emotion" अर्थात् भावुकतामय नीति का ही नाम 'धर्म' है। हम जिसे 'धर्म' कहते हैं, वह एक गंभीर और व्यापक शब्द है। सच पूछिये तो मनुष्य को किसी चीज के सहारे की, आलम्ब की, उसमे विश्वास रखने की नितान्त आवश्यकता होती है। दुःख को सहने की और मौत और उसके भी परे परलोक का मुकावला करने की हिम्मत साधारण आदमी मे नहीं होती। उसे इस असीम विश्व मे किसी सहारे की जरूरत होती है और यह जरूरत सदा धर्म पूरी करता आया है और विशेषकर उन

महापुरुषो की जीवन-कथा जिन्हे हम विभिन्न धर्मों के संस्थापकों के रूप मे पहचानते हैं। बुद्धि कुछ भी कहे, आखिरकार व्यक्तिगत उदाहरण ही—किसी बुद्ध, किसी ईसामसीह, मुहम्मद या महावीर का जीवन ही—सदा हमारा पथ-प्रदर्शक रहता है। तभी तो यूनान के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू (Aristotle) ने अपने नीति-शास्त्र मे यह कहा है कि सदाचारी आदमी ही सदाचार परखने की अन्तिम कसौटी है और उसका जीवन ही सदाचार का जीता-जागता उदाहरण। सारा तर्क कर चुकने पर अन्त मे हम इसी नतीजे पर पहुचते है कि "महाजनो येन गतः स पंथा."—महापुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, वही हमारे लिये श्रेष्ठ है। आज समानता के युग मे शायद इस प्रकार की व्यक्ति की उपासना समयानुकूल न मालूम हो पर अन्तिम सत्ता प्रजा के हाथ मे होते हुए भी तो उसके संचालन के लिये एक महान् और निरभिमानी नेता का होना जरूरी है। इसे आप पश्चिमी तानाशाही न समझें, जिसने सत्ता के मद से लिप्त राजनीति के द्वारा आत्मा की आवाज़ को दबा दिया है और जिसने जातीय भेद-भाव, घृणा और हिंसा के आधार पर एक प्रकार का जनून पैदा किया है। जो अवतारी पुरुष या पैगम्बर हुए हैं उन्होंने संसार के लिये ही संसार को छोडा है, सर्वस्व त्याग करके उस पर और भी अधिक अधिकार पाया है। और फिर हमे यह भी खयाल रखना चाहिये कि यह यूरोप और अमेरिका आदि

पश्चिमी देशों के आध्यात्मिक दिवाले का ही परिणाम है जो उन देशो मे इस तरह के विषम सिद्धात घर कर सके हैं। वहां की तानाशाहियो ने धर्म का स्थान लिया है। इन दलों मे भी धर्म ही की तरह पूजा, क्रिया-काण्ड और प्रतीको की कमी नहीं है। इतिहास बराबर यही सिखाता है कि सिद्धातो और आदर्शों की तरह व्यक्तित्व भी जनता पर उतना ही असर करता है। अवतारी पुरुष का एक आत्मत्याग—प्रेम और उदारता का एक भी काम—उसके पीछे आने वाले पट्टधर शिष्यो के सैंकड़ो उपदेशो और क्रिया-काण्डो से ज्यादा मानव-हृदय पर असर करता है। वास्तव मे किसी भी धार्मिक आन्दोलन की यह विशेषता भी है और कमजोरी भी कि उसके प्रचार के लिये केवल सिद्धान्तों मे विश्वास होना ही काफी नहीं है परन्तु उन सिद्धातों मे जीवन डालने और समझाने वाले एक महान आत्मा की भी आवश्यकता होती है।

(२)

श्रीकृष्ण ने भगवद् गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्रसार, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। जैन परम्परा के अनुसार भी समय

समय पर मानवजाति के कल्याण के लिये तीर्थंकर या अर्हत सत्य का ज्ञान कराने के लिये उत्पन्न होते हैं। अर्हत की श्रेणी मानव-विकास की सब से ऊँची सीढ़ी है। इसी श्रेणी मे तीर्थंकर मनुष्य के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिये मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते है। मनुष्य-समाज मे तीर्थंकर का स्थान उतना ही ऊँचा है जितना अन्य धर्मों के पैगम्बरों या अवतारों का। यही महान पुरुष, चाहे उन्हे अवतार कहिये या पैगम्बर या तीर्थंकर, हमारे मार्ग मे ज्ञान का प्रकाश करते हैं।

पर, यदि हम जीवन को देखें तो धर्म केवल व्यक्तिगत या आध्यात्मिक चीज ही नहीं है। वह एक सामूहिक वस्तु भी है और धीरे धीरे प्रत्येक धर्म एक संस्था का रूप ले लेता है जिसके अपने विधि-निषेध के नियम और क्रिया-काण्ड बन जाते हैं। उसका एक संगठन खडा हो जाता है और उस संगठन में मानने वाले और उसकी रक्षा करने वाले अनुयाइयों का समूह भी। जिस तरह प्रकृति मे प्रत्येक भाव का विरोधी भाव पैदा हो जाता है, वही हाल धर्म का भी है। संसार या तो महात्माओं की अवगणना करके या फिर उनके उपदेशों के शब्द मात्र का निर्जीव अनुकरण करके उनकी विडम्बना करता है। ससार के सभी धर्म-संस्थापकों की लगभग एक ही गति हुई है और वह यह कि संसार उनके आदर्शो पर चलने के वजाय उनकी पूजा करता है। किसी भी धर्म के अनुयाई

उसके प्रवर्तक से कितने दूर चले जाते है, इसको एक बार यूरोप के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता नित्शे (Nietzche) ने बहुत ही सुन्दर शब्दों मे समझाया था। उसने कहा था कि दुनिया मे एक ही सच्चा ईसाई पैदा हुआ था और वह था स्वयं ईसामसीह जिसे लोगों ने फासी पर लटका दिया। हो सकता है कि नित्शे के वाक्य मे कुछ अतिशयोक्ति हो पर इसमे सन्देह नहीं है कि पैगम्बरो के सजीव सिद्धात उनके अनुयाइयों मे निर्जीव क्रिया-काण्ड का रूप धारण कर लेते है, युग-द्रष्टा की उदार और व्यापक दृष्टि अन्धविश्वास और रूढि का रूप धारण कर लेती है। वास्तव मे देखा जाय तो किसी भी धर्म का ह्रास जितना उसके विरोधियों के विरोध मे नहीं दिखाई देता, उतना उसके अनुयाइयों के रूढि-पालन मे नजर आता है।

फिर भी मानवजाति के इतिहास मे धार्मिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धार्मिक संगठन की अपनी मर्यादा बनी, परम्परागत धर्म-गुरुओं की गद्दियाँ स्थापित हुईं, मन्दिर और मसजिद अगाध सम्पति के केन्द्र बन गये, उनके अपने नियम और कानून बने और उन नियमों के साथ साथ उनके फल और दण्ड भी निरधारित हुए। करीब करीब सभी देशों मे इस प्रकार के संगठित धर्मों के गुरुओं की सत्ता इतनी बढी कि उसने वहा की राजनैतिक सत्ता से भी टक्कर ली और कहीं कहीं तो वे सारी राज्य-

व्यवस्था के सूत्रधार ही बन बैठे। भारतवर्ष मे क्षत्रियों और ब्राह्मणों की स्पर्धा और यूरोप में पोपों और राजसत्ता के बीच संघर्ष इसके उदाहरण हैं। वास्तव में धर्म-गुरुओं की इस परम्परागत सत्ता के रूढ़ हो जाने के कारण ही फिर नये धार्मिक आन्दोलनों का जन्म होता है। बुद्ध और महावीरने हिन्दू धर्म में रूढ़ ब्राह्मण-सत्ता के विरुद्ध और यूरोप में ल्यूथर ने रोम की पोप सत्ता के खिलाफ बगावत की।

सभी संगठनों मे एक प्रकार की अनुदारता या कड़ाई आ ही जाती है। धार्मिक संगठन में भी रूढ़िवाद, अनुदारता और अपने-पराये की भावना घुस जाती है। प्रत्येक धर्म के गुरु अपने ही दृष्टिकोण से सत्य का प्रतिपादन करते हैं, उसी को अन्तिम सत्य बताते हैं और उस सत्य को जो वचन या कर्म से नहीं मानते, उन्हे दण्ड देते है। इतिहास के किसी भी निष्पक्ष वाचन करने वाले से पूछिये कि धर्मान्धता ने कितनी बुराइयों को जन्म दिया है। धर्म के नाम पर बडी बडी लडाइया लड़ी गई हैं, एक जाति ने दूसरी जाति पर अत्याचार किये है और उसका बहिष्कार किया है। परम्परारूढ धर्म-गुरुओं ने ज्ञान और विज्ञान के विकास मे बाधाएं डाली हैं और बनी हुई व्यवस्था मे किसी भी प्रकार के फेर-फार का विरोध किया है। उन्होंने जनता को यही सिखाया है कि अपनी आत्मशुद्धि के लिये या परमात्मा को खुश

करने के लिये मन्दिरों मे या उनके महन्तों को दान देना या व्रत-उपवास करना काफी है। जैन धर्म ने तो ऐसे स्वार्थी महन्तों की भक्ति को और उनके बताये हुए मार्ग पर चलने को एक प्रकार का मिथ्यात्व बतलाया है। आज भी हम हिन्दुस्तान मे भिन्न भिन्न लोगो से इस प्रकार की बात सुनते हैं कि हमारा धर्म खतरे मे है। वास्तव में धर्म से उनका मतलव अपनी भौतिक सुख-सामग्री और इच्छाओं का ही होता है क्योंकि यह तो मानने में नहीं आता कि धर्म जैसी चीज के अस्तित्व और विनाश का केवल रोटी के टुकड़ों और रोटी के बटवारे से कोई सम्बन्ध हो। धर्म के नाम पर कभी कभी तो एक ही धर्म के अनुयाई आपस मे सर फोड़ लेते हैं और ऐसी वातों पर जो बुद्धि से सोचने पर निकम्मी मालूम होती है। इससे भी आश्चर्य की वात तो यह है कि ईश्वर और मुक्ति का संदेश जनता तक पहुचाने के लिये—धर्म के प्रचार के लिये—लोगों ने तलवार और वन्दूक काम मे लाने मे भी आगा-पीछा नहीं किया। यह सच है कि आज पश्चिम मे आदमी की पशुता आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र मे ही ज्यादा प्रस्फुटित हुई है पर हिन्दुस्तान मे तो आज भी धार्मिक भेद-भाव अपनी अनुदारता मे राजनीति से वाजी ले जाते हैं।

ऊपर की वातों से यह तो आप को मालूम हो गया

होगा कि प्रत्येक धर्म की सब से बडी बुराई उसके एक सीमित सम्प्रदाय बन जाने में और महन्तों, क्रिया-काण्डों और रूढ़ियों की परम्परा में है। और इसी के कारण फिर विचार-क्रान्ति और धर्मो के प्रति अरुचि पैदा होती है। जैसा एक बार बुद्ध-जयन्ति के अवसर पर गांधीजी ने कहा था, "पुजारी ही अपने देव की आत्मा का खून करते हैं।" यह ठीक है कि शास्त्रों और सूत्रों को जिन्हे ईश्वर-प्रणीत कहा जाता है, आम लोगों को समझाने के लिये और उन्हे धर्म मे दीक्षित करने के लिये गुरुओं की या महन्तों की आवश्यकता होती है पर क्या यह माना जा सकता है कि ऐसे धर्म-गुरुओं मे जो आध्यात्मिक गुण होने चाहिये, वे पुश्तैनी या जाति विशेष के कारण या परम्परागत केवल गुरु की गद्दी पर बैठ जाने से आ सकते हैं। इस तरह की गुरु-परम्परा की सब लाभ-हानियों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि यह परम्परा ही सत्ता और रूढ़िवाद की पोषिका बन कर धर्मो को अनुदारता, अत्याचार और दम्भ का दोषी ठहराती है। आत्मा और परमात्मा के बीच ऐसे दलालों की जरूरत नहीं है।

(३)

पर, आप मेरी बात से कोई गलतफहमी पैदा न करें। धर्म की आत्मा उसके बाहरी ढाँचे से ऊपर होती है। क्या

महापुरुषों के, धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से मानवजाति को नैतिक विकास की शिक्षा नहीं मिली ? क्या उन्होंने अपनी व्यापक और गहरी दृष्टि से लाखों आदमियों मे श्रद्धा उत्पन्न नहीं की ? मानवजाति ने चाहे अभी तक इस दिशा मे ज्यादा प्रगति न की हो, पर मानव-प्रकृति मे जो सुधार और विकास हुआ है उससे भविष्य तो कम से कम उज्ज्वल मालूम होता है। साहित्य, संगीत, शिल्प और कला को, जो मानवजाति के वास्तविक विकास के सूचक है, धार्मिक भावना से वड़ा प्रोत्साहन मिला है। और हम उस अत्यन्त सूक्ष्म और अगाध तत्त्वज्ञान को भी कैसे भूल सकते है जो भिन्न भिन्न धर्मों मे प्रकट हुआ है हालाँ कि मानवज्ञान और क्रिया की ऊँची से ऊँची वस्तु भी आत्मा का केवल एक अपूर्ण प्रतिविम्व ही है। मनुष्य की सहज कमजोरिया उसके आध्यात्मिक विकास को रोकती है पर पैगम्वरों के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण, उनकी साधना, सफलता और असफलता मनुष्य की प्रगति मे उसके पथ-प्रदर्शक वनते है और सैकड़ो हजारों वर्षों के वाद भी हमे इस वात की सूचना करते रहते है कि आत्मा कितनी ऊँची उठ सकती है। जव हम धर्म की वुराइयों पर नजर डालें तो साथ ही साथ इस वात को भी न भूलें कि धर्म ही मनुष्य के सामने नि:स्वार्थ सेवा और त्याग का आदर्श रखता है और उसमे अपने से ऊँचे किसी

आदर्श, शक्ति या आत्मा के प्रति भक्ति पैदा करता है। धर्म ने ही मनुष्य को अपनी प्रकृति से ऊपर उठाया है। तर्क या उपदेश से चाहे विश्वास जमे या न जमे, श्रद्धा उत्पन्न हो या न हो पर एक वास्तविक ज्वलन्त उदाहरण हमारे हृदय मे परिवर्तन कर देता है।

और देशों की तरह हमारे देश मे भी बड़े बड़े सन्त और ऋषि हुए है जिन्होंने जीवन के तथ्य को समझा है और सासारिक सुखों की क्षण-भंगुरता का अनुभव किया है। उनकी आत्मा की उडान को, उनकी भावनाओं को हम शायद वैज्ञानिक कसौटी पर न कस सकें क्योंकि जैसा महाकवि गेटे ने कहा था, "सत्य कहा नहीं जा सकता; उसका अनुभव ही किया जाता है।" मीरावाई, कवीर, रामदास और चैतन्य जैसे सन्तों के भक्तिरस की धारा भारतवर्ष की ऐसी सम्पत्ति है जो दूसरे देशों के उपनिवेशों इत्यादि की सम्पत्ति से कहीं ऊँची है। धर्म-संस्थापकों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि सच्चा धर्म केवल उपदेश या क्रियाकाण्ड नहीं पर वह वस्तु है जो जीवन मे उतारा जा सके। उदाहरण स्वरूप महावीर के बाद जैन धर्म का सुदूर देशों मे—उत्तर मे सिन्धु के किनारे से लेकर दक्षिण भारत तक मे—खूब प्रचार हुआ और उसके साथ साथ अहिंसा और सामाजिक कल्याण की उदात्त भावनाओं का भी। कहा जाता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं अपना राज्य छोड़कर

श्री भद्रबाहु के साथ दक्षिण गये थे। इसी प्रकार अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

मनुष्य के लिए आध्यात्मिक विकास का सब से सरल मार्ग दूसरे मनुष्यों की सेवा का है। इसीलिए जैन धर्माचार्यों ने कितने ही प्रकार के अहंकार बतलाये हैं जो आत्मा के विनय रूपी गुण के विरोधी हैं। जाति का अभिमान भी उनमे से एक है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने बतलाया है कि एक मातंग अर्थात् चाडाल भी, अगर उसकी श्रद्धा सच्ची है तो देवों का देव समझा जायगा। आज भी हम देखते हैं कि दीन-दुखियों की सेवा मे धर्म की सच्ची आत्मा रही हुई है। धर्म कभी वर्तमान के सुलगते हुए प्रश्नों की अवगणना करके ठहर नहीं सकता। उसे वे प्रश्न सुलझाने ही होंगे। धार्मिक कहलाने वाले मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह पुजारियों के मन्त्रों की अपेक्षा जनता के भोजन के प्रश्न का अधिक खयाल रखे। महंत क्या उपदेश देते है, इससे अधिक इस बात का विचार करे कि उनके अनुयायी क्या करते हैं। जीवन कोई सरल वस्तु नहीं है। मुक्ति या आत्मशुद्धि के लिए कोई झटपट से पहुँच जायं, ऐसा सीधा रास्ता नहीं है। जैसा बर्ट्रन्ड रसेल ने कहा है, "हमारे जीवन का ध्येय सिर्फ इतना ही नहीं है कि हम जैसे तैसे ईश्वर के कोप से बचते हुए अपना जीवन पूरा करें। यह ससार हमारा है, और अगर हम चाहे तो इसे स्वर्ग या नरक बना

सकते हैं।" सच्चा धर्म मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक सभी क्षेत्रों को छूता है और उसका ध्येय सामूहिक प्रयत्न से समाज की उन्नति करना है। जैन धर्म के सिद्धात का केन्द्र भी यही है कि मनुष्य-जन्म देवगति से भी ऊँचा है। देवों के राजा देवेन्द्र भी यदि चाहे तो सीधे मोक्ष मे नहीं जा सकते। उन्हे इसके लिए मनुष्य-भव मे आना ही पड़ेगा। यह एक वहुत महत्त्वपूर्ण सैद्धातिक सत्य है कि मनुष्य-जीवन संसार के सब धन-दौलत से बढ़कर है। पर दु:ख इस बात का है कि धर्म के नाम पर व्यक्तिगत आचार-विचार तो बरावर सिखाये जाते है, किन्तु धर्म की आत्मा भुला दी जाती है तथा सामाजिक और सामूहिक जीवन से धर्म अलग हो जाता है। और आज के हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक हमारी पुश्तैनी धार्मिक भावनाओं से तो दूर हो ही गये हैं, पर पश्चिम की सामाजिक कल्याण और विवेकपूर्ण दान-वृत्ति की भावनाओं को भी उन्होंने नहीं अपनाया। पश्चिम मे भी जो लोग मानव-समाज के दु:खों को कम करना चाहते है, उनमें धार्मिक भावना आये विना नहीं रहती, चाहे वे धार्मिक मठों या संस्थाओं को कितना ही वुरा समझते हों। साम्यवादो रूस के कुछ प्रसिद्ध साम्यवादियों की तुलना भी त्याग और सयम की दृष्टि से किसी भी धर्म के साधुओं से की जा सकती है। हिटलर के लिए भी स्वयं एक अंग्रेज विचारक ने, जो उसके सिद्धांतों और

कार्यों से सहमत नहीं है, यह कहा है कि नैतिक पतन और नास्तिकता के आज के युग मे वह. अर्थात् हिटलर, आत्म-त्याग, कर्तव्य-भावना और देश के लिए निजी सुखों का वलि-दान करने की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति है जिसने संसार को यह दिखलाया है कि आत्मा भौतिक सुखों से ऊपर हैं। जब कि बुद्धि मे विश्वास करने वाले आज के शंकाशील युवक केवल शंका ही करते रहते हैं, तब साम्यवाद या फासिज्म जनता की श्रद्धा और विश्वास की भूख मिटाते है और उसके सामने आदर्श उपस्थित करते हैं। आज जो राष्ट्र फासिज्म या साम्यवाद को बुरा समझते हैं, वे जब तक अपने राष्ट्र मे इस तरह की असीम आत्मशक्ति, नैतिक नियन्त्रण और आदर्श उपस्थित नहीं करते, तब तक संसार मे नया युग केवल स्वप्न रहेगा। पर यह नैतिक बल कहाँ से मिले ?

(४)

कुछ विचारकों का कहना है कि विना हृदय-परिवर्तन के अब संसार को नाश से नहीं बचाया जा सकता। कुछ तो यह भी कहते है कि इस दुनियाँ मे एक नये पैगम्बर की आव-श्यकता है। बहुत से ऐसे भी सम्प्रदाय है, जो उत्सुकता से ऐसे अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जैसे संसार मे अभी तक महापुरुष या अवतारों की कमी रही हो। हमे किसी नये अवतार की आवश्यकता नहीं, जो हो गये हैं उन्हीं के आदेशों

का अगर हम पालन करें तो काफ़ी है। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि इतिहास के आरंभ से अब तक धार्मिक संगठनों ने अनुदारता, वहम और अत्याचार का पोषण करके मानवजाति का भला करने के बदले बुराई ही अधिक की है। उधर कट्टर पंथी अपने अनुयाइयों की संख्या बढ़ाने और एक-दूसरे के धर्मों की समालोचना करने में ही मग्न रहते हैं।

इन शंकाओं और समालोचनाओं का समाधान होना जरूरी है, पर हम परख कैसे करें—धर्म-प्रवर्तकों द्वारा जीवन में उतारे हुए आदर्शों से या इनके अनुयाइयों के रूढ़िवाद से? सिद्धान्तों की तुलना तो केवल बौद्धिक चीज है क्योंकि एक पैगम्बर से दूसरे पैगम्बर के उपदेशों में कोई बहुत ज्यादा अंतर नहीं है और इसलिये भी कि उनके अनुयाइयों के जीवन मे वे बातें नहीं के बराबर हैं। दूसरी ओर अगर हम विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों के आज के जीवन की तुलना करें तो यह काम असंभव हो जायगा। पर, अगर नास्तिकों और कट्टर-पंथियों दोनों का समाधान करना हो तो धार्मिक वृत्ति वाले मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे धार्मिक संगठनों की दीवारों के ऊपर उठकर धर्म-संस्थापकों के उपदेशों को महन्तों की या पट्टधर साधुओं की भाषा मे नहीं, पर अपनी सहज बुद्धि के अनुसार समझने का प्रयत्न करें और उसके अनुसार आचरण करें। 'धर्म' को बचाने का और उसे मानवजाति की सेवा की ओर प्रगतिशील करने का यही एक मात्र उपाय मुझे दिखाई देता है।

अनुवादक—श्री सिद्धराज ढड्ढा

धर्म क्या है ?

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली]
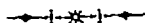
जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह है यह कि धर्म क्या है। यह तो मेरे लिये घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मैं क्या जानता हू ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं, वह तो करने की है। यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नहीं तो ज्ञान नहीं। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। भीड-भाड से भी उसका वास्ता नहीं है। धर्म की साधना एकान्त मे होती है और मौन द्वारा होती है। बोलने से

श्री जैनेन्द्रकुमारजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

तो वाद बनते हैं। वाद से विवाद खड़े होते हैं। अनेकानेक तो आज वाद हैं। उन वादों में आपस में खींचतान है और अनबन है। तू-तड़ाक और मार-पीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर बढ़ती ही हुआ करती है। तब उस बोलने में धर्म कहाँ रक्खा है ? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल हो सकता है।

धर्म अनेकता में मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमें समन्वय लाता और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शंका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाडते हैं तो धर्म हमें जोड़ता है।

फिर भी भाग्य का व्यंग समझिये कि उस धर्म के बारे में मुझे बोलना होगा। हाँ, बोलने को भी जगह हो सकती है, वशर्त्ते कि वह फलप्रद हो। उससे सत्कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो, तब तो बोलना धर्म है, नहीं तो अधर्म। कवि का वचन है कि "बुद्धि कर्मानुसारिणी।" उसी तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मैं हू कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखंड हो जाती है। वह बंधन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्युषण व्याख्यानमाला के आयोजन को सिद्ध तभी तो कहा जायगा जब उससे कर्त्तव्य-कर्म मे स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि में चंचलता

लाते हैं। बुद्धि छिड जाने पर अगर आदमी ठीक काम मे न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मैं यह देखता हू कि जहां हजार-पाच सौ का जमाव रहता है वहीं व्याख्यान व्यसन हो जाता है। वोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-वुरा कह कर वहीं पल्ला झाड़ चलते हैं। यह धर्म थोड़े ही है। इससे पर्युषण पर्व की यह व्याख्यानमाला हवा मे नहीं उड़ जानी चाहिये। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम मे एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा यानी मानव-सेवा मे लगाने को चल पड़ा तो वेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिये। मैं भी तो वात कहता हू, मैं कौन काम करता हूं? पर सच्चा आदमी मुंह से कम कहता है, उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्मनिष्ठ का तो जीवन ही वोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को वहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा, आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, अग्नि का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान वनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है, मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से वाहर

भी जा सकता है ? जो जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही हैं। पानी ठंडा होने और अग्नि गरम होने के सिवा भला और कुछ हो सकती है। तब अधर्म की आशंका कहां ?

हाँ, वह ठीक। लेकिन आदमी की बात अजब है। आदमी मे कई तहें है। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ कहता है। इस तरह आदमी में अन्तर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं है। वह स्व—स्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है कि उसका 'स्व' क्या। और स्वास्थ्य क्या ?

विचार करने चलते हैं तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है, उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड़ नहीं चेतन है। इससे जितना आदमी का व्यवहार जड़ शरीर की वासनाओं से बन्धा नहीं, बल्कि चैतन्य आत्म रूप होगा उतना ही वह स्व-स्थ यानी धर्मयुक्त है।

तो क्या शरीर को काटकाट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आयगी ? शंकावान ऐसी शंका कर सकता है। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि मे बाधा है तो उसे सुखा गला कर नाश किया जाय, यही न ?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नहीं है। सिद्धि का वह मार्ग नहीं है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव है ? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अतः जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु में आत्म धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह उसमे न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना मे साधक होता और इस तरह स्वयं एक तीर्थ, एक मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े की तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहें तो वहाँ शरीर तक नहीं रहेगा। आत्मा ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप मे विराजती है।

अच्छा, तात्विक तो यह बात हो गयी। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वयं उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्मतेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार में कठिनाई दीखती है। ठीक ही है, चलेंगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करें, तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पड़े तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढ़ाते हैं कि उलझन दीखती है। यहाँ केवल धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन धर्म, सनातन धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, इसलाम धर्म। कोई धर्म अपने को गलत नहीं मानता। और बेशक कोई गलत हो भी क्यों ? पर हर धर्म में कुछ लोग हैं जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते हैं कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू बनते हैं। तब धर्म की जिज्ञासा में अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बड़ी दुविधा होती है। अनेक उपदेष्टा मिलते हैं जो कहते हैं हमारे डेरे में आजाओ; हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते हैं कि यह हमारा साहित्य पढ़ो, तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म मे तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय ? धर्म-तत्व किसी शक्ल के पात्र मे हो, अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय हैं, धर्म-पूर्वक वे सब सच बनते हैं। धर्म-हीन होकर वे ही मिथ्या हो जाते हैं। जैसे जब तक आत्मा है, तब तक

अमुक नामधारी व्यक्ति का देह भी आदरणीय है। आत्मा निकल जाने पर वह देह रोग का घर वन रहेगा। तव उससे जितनी जल्दी छुट्टी पा ली जाय, उतना अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामों के नीचे जो सम्प्रदाय वन गये है, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहरते है।

पर देखने मे आता है कि कहीं जैन धर्म को ऐसा कसकर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमे से निचुड गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण विरले नहीं हैं। वहाँ जैन धर्म को धर्म के लिए नहीं 'जैन' के लिए माना जाता है। इस वृत्ति मे सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदायों मे भी ऐसी वात मिलती है। और सच यह कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी वात कहूँ। मैं अपनी मा का इकलौता वेटा था। चार महीने का था, पिता तभी मर गये। मा ही मुझे सव कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गयी। अव आप मेरी हालत जान सकते हैं। पर कलेजे पर पत्थर रखकर मुझे यही करना पड़ा कि स्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊं। मेरे लिए यह सुख की वात न थी। पर क्या आप लोगो मे से कोई भी मुझे यह सलाह देने को

तैयार है कि मुझे मां की देह से चिपटा ही रहना चाहिये था, छोड़ना नहीं चाहिए था ?

साम्प्रदायिक रूढ़ियों का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय, तो ठीक। नहीं तो आग्रह मे निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार मे धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषों को भी भ्राति होती देखी जाती है ! शुद्ध धर्म के मोह मे उनमे उन विशेषणो के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं। क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिये नहीं ही जैसा है। इस लिए सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकात अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। 'यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो है नहीं। यह देख कर वह झमेले मे हो सकता है। उधर से पुकार सुनता है, तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन मे पड़े और तय करने चले कि कौन इसमे कम श्रेष्ठ है ? और कौन अधिक ?

मैं मानता हूं कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के

चक्कर मे पडा कि खोया गया। उसे फिर राह नहीं मिलेगी। और वह शब्द के भूल-भुलैये मे भटक रहेगा। क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों मे तुलना करने चलना ही एक अहंकार है और गलत है।

अरे भाई, धर्म कहां वाहर खोजे मिलेगा? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झाको तो वहा से एक धीमी लौ का प्रकाश होगा। आत्मा की आवाज सव के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से वाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि 'अजी कहा है वह आत्मा की आवाज? हम सुनते हैं और कुछ नहीं सुनाई देता।' वह भाई भी गलत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोडनी होगी। वात यह है कि हमारे अन्दर तरह तरह की कामनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज कैसे सुनाई दे? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ से कान वन्द करने होगे। तरह तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे हैं। उन सव की तरफ वहरे वन जाना होगा। जो वाहर दीख रहा है उस पर आंख मूंद लेनी होगी। तव जो नहीं सुनता वह सुनाई देगा और नहीं दीखता, वह दिखाई देगा। वस, उसको गह लीजिये। उसके पीछे जो भी छोडना पडे, छोड़ दीजिये। जहां वह ले चले, चले चलिए। इसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म पालन

कर रहे हैं। और धर्म के नाम पर जो जंजाल और दुकान-दारी का पसारा फैला है, उससे बच सके हैं।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँ की आत्मा की बात करते हो ? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है ? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड़ जायगा ? आत्मा तो वह छोड़ नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है ? धन की कमाई आदमी के मरने बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनायी। वे पाँच सौ वर्ष तक रहीं तो तब तक उसकी याद रहेगी। उससे नाती-पोतों और पड़-पोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है ?

ठीक भी है। आते हुए हावड़ा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत ऊँचा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना ? सैंकड़ों मन बोझ को गेंद की तरह यहाँ से वहाँ फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आस्मान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती ? फिर लड़ाई में हिटलर के बम याद कीजिये। एक एक ऐसा कि हजारों को तहस-नहस कर दे और छन में भरी बस्ती वीरान कर दे। यह दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी

जितना भी नहीं। फिर क्या धर्म और क्या आत्मा? उन ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे क्या वह निरी खामखयाली ही नहीं है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित-रुद्र सामने है, वह तो है, और जो निराकार धर्म-तत्व की बात है, वह नहीं है। पर, एक क्षण को मन सहम भी जाता हो, लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाबी घुमाता हुआ साढ़े-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन कितना भी बड़ा हो, वह उस नन्हें सचेतन आदमी के हाथ मे जड़ की भांति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है, तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहाँ है आज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु? और साम्राज्य? और दुर्ग? और सत्ताएं? आदमी ने अपने अहंकार मे जो कुछ खड़ा किया, वह सब एक दिन खंडहर बन रहा। पर बुद्ध और महावीर को हुए हजारों वर्ष हो गये और ईसा की आज यह बीसवीं सदी है। काल के इस गहन-पटल को भेद कर इन महापुरुषों का सन्देश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वयम् अमर हैं। कहाँ

है सम्राटों का अतुल वैभव, महल-अटारी, कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो ? वह सब कुछ धूल मे मिल गया है। काल ने उसे लथेड़ डाला है। फिर भी उस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ 'प्रेम का सन्देश' सदियों के अन्तराल से आज भी हमे सुन पड़ता है।

इसलिये धन की कमाई नहीं रहती, धर्म की ही कमाई रहती है। पर वह कमाई दीखती नहीं। धरती में का बीज भी कहीं दीखता है ? पर अधीर उसका फल चाहता है। किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नहीं भी नजर आता। अना-तोले फ्रान्स की एक कहानी है। उसमें दिखाया है कि ईसा जब जिन्दा था तो वह एक आवारा उठाईगीरे के मानिन्द समझा जाता था। गरूर में मस्त अपने को ऊँचा मानने वाले लोग हिकारत से उसे देखते थे। लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या, उसने तो अपने को प्रेम से भरा रखा। वह फाँसी चढ़ गया, पर फाँसी चढ़ाने वालों के लिए उसका मन करुणा से भरा रहा। आज फाँसी देने वाले वे अफसर कहाँ है ? कौन उनको पूछता है ? और ईसा को आज अवतार मान कर करोड़ों लोग गद्गद हो जाते है। यह धर्म की महिमा है या किस की ? धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नहीं भीतर की आँख चाहिये। और

घास की तरह जल्दी वह उग नहीं आता। इससे धर्म की श्रद्धा कठिन होती है। पर यही उस श्रद्धा की कीमत भी है। तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हें नहीं पूछे, बल्कि उलटे त्रास दें और हंसी उडावे, तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है? उस श्रद्धा को भीतर जगा कर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है।

आज तो उसी श्रद्धा की माग है। मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जाती है। भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है, वाकी भ्रम। पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है। इस नास्तिक जीवन-नीति की एक वाढ़ ही आ गई है। और घर घर उसमे वहता दीखता है। ऐसे मे आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया।

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है। पश्चिम यों तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है। पर वह विनाश के आवर्त्त मे किनारे भी पहुच रहा है। उस जीवन-नीति मे जोर दिया जाता है अहम् पर। कहते हैं "Dev lop personality"। यह उनका मन्त्र है। पर इससे थोडी दूर बढने पर ही स्पर्धा पैदा होती है। उस Developed personality का जोर अपने ऊपर नहीं, दूसरे के ऊपर खर्च होता है। परिणाम होता है—हिंसा और दमन और

शोषण। वहा वासनाओं को उत्तेजन दिया जाता है। यहाँ तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है। इस नशे के नीचे समूह के समूह संगठित होते और दूसरों को ललकार देते है। समझा जाता है कि वे बढ़ रहे हैं। पर पडौसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढ़ने वाली सभ्यता झूठी है। वह वृत्ति धार्मिक नहीं, अधार्मिक है। धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने। अपने को शून्य और अकिं-चन मानने और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है।

सोचता हूँ कि इस दुनिया मे सच्चा करिश्मा क्या है, तो मुझे मालूम होता है कि जहाँ सब अपने अपने अहंकार मे डूबे है उस जगत मे सच्ची विनम्रता ही सब से बड़ा करिश्मा है। जो कृतार्थ भाव से अपने को सब का सेवक बनाता है, वही धन्य है।

एक दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे बढ़े दीखने का रोग विलायत मे है तो हिन्दुस्तान मे भी है। हिन्दुस्तान मे वह कम नहीं है। इस तरह सफलता भी पायी जाती सी दीखती हो, पर वैसी दुनियावी सफलता कोरी झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जय-ध्वनि करते हैं। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते है। लेकिन महावीर ने तो राजपाट छोडा और वन की राह ली।

सुख का रास्ता तजा, दुख का मार्ग पकडा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उल्टी रीति उन्होंने अपनायी। वह रीति खुद दुख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की यानी अहिंसा की थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित मे दुख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का नहीं तो दूसरा क्या सार है ?

धर्म तत्व यह है कि अहम्-भाव छोडो, सेवाभावी बनो। परिग्रह का संचय मन मे लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमें ममता परिग्रह है। समाज मे आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों मे धन का समान वितरण चाहता है। गाधीजी अहिंसक हैं; पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं है। इससे जब गाधीजी कहते हैं कि ममता छोडो, तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है। वह कहेगा कि तुमसे ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ हैं, मैं तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिए कि हमारे आसपास भूखे लोगों की भूख मंडरा रही हो तो उसके बीच महल के बंद कमरे मे धर्म का पालन नहीं हो सकता। धर्म कहता है कि धनिक अपने

धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व भाव नहीं माने। कोई जरूरत नहीं है कि हम चाहे कि धनिक धनिक न रहे। पर, धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिए। जिसके पास सोने का जितना बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड़ दें, तो सोना आपका कुछ न बिगाड सकेगा। न फिर उससे दूसरे का अलाभ होगा। और तब फिर वह सोना जगत का हित करेगा, क्योंकि धर्म के काम में लगेगा। दूर क्यों जाइये, अपने ही पहले के श्रीमन्तों को देखिए न। कोई भला उन्हे देख कर कह सकता था कि ये कोट्याधीश हैं। सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आनबान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला आता हो। दिखावा अब बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे पास धन है तो यह कौन बडाई की बात है। बडाई की बात तो त्याग मे है। अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है। पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवा और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी यानी सच्चा धार्मिक अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौडी नहीं खर्च करेगा, अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो। मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी

जमीन हम चले है, उस पर फिर पीछे फिर कर एक निगाह डाल लें।

पहली बात कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप मे नहीं मिलती। बाहर खोजने चलते है तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने आप मे मूल्यवान नहीं है। यह तो पात्र की तरह है। धर्म का उनमे रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा मे है। इन्द्रियो को वश करना है और आत्मरूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों मे आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहकार धर्म का शत्रु है। और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात जिस पर कि काफी जोर भी कम होगा यह कि धर्म बोलने-जानने की चीज नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म-तत्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गडा-गडा कर देखो तो क्या नतीजा होगा ? उससे आँख ही अंधी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को भी बहुत तर्क-वितर्क के जाल डाल कर पकड़ने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमे पड़ कर बुद्धि विलासिनी और

निर्बल होती है। परम तत्व को जान कर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देंगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों? शास्त्रार्थ क्यों? घन्टों उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना हम से पचे उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले लें। बौद्धिक ज्ञान तो अपने आप मे कोई साध्य होता नहीं है। बारीकी से देखें तो ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर पृथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहां ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं। अर्थात् जहां ज्ञान रहे, उतना भी अन्तर उनमे नहीं है। ज्ञान वहां घुल रहता है, जैसे नोन की गाठ पानी मे गल रहती है।

यह सुन कर बुद्धिवादी (Rationalist) मुझे सवालों से तोप सकता है। पर सवाल की कहीं शाति हुई है? शंका शात होगी तो बस श्रद्धा मे। जो अनुभव की बात है वह बहस की नहीं है। और समझ कर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषय में हमे नम्र और जिज्ञासु हो कर चलना चाहिए। पाचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमे नहीं करने चाहिए जैसे धन से करते हैं। धन से हमारी ग़रज़ चिपटी रहती है। पर धर्म से बदला हम नहीं चाह सकते। यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी। धन के मोल जिस तरह चीजें खरीदी जाती है, वैसे धर्म के बदले भी

हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहें तो यह गलती है। धर्म तो हमे अपनी ही असलियत देता है। इससे बड़ा और दूसरा लाभ क्या होगा ? यह धर्म को लजाना है कि हम उसके जरिये ऐश्वर्य बनाना चाहे या अपना प्रभाव बढाना चाहे। यह तो हीरे से कौडी का काम लेना जैसा हो जायगा। महातत्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचें ? यह तो वैसे ही हुआ जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हांडी पकाना चाहें। ऐसे हाडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे। इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध मे हम सावधान रहे। और लौकिक प्रयोजन साधने की इच्छा हम तज दें। ऐसी इच्छा तो हमारी कंगाली का सबूत है और अज्ञान का।

कवि ने कहा है,—"कौडी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड दिया ?" धर्म वह लाल रतन ही है। पर मुट्ठी कौडी पर बंधी है, तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा ? इसलिए लाल रतन लेने के लिए कौड़ी पर से मुट्ठी छोड देनी होगी। आप लोगो मे बड़ी बड़ी सम्पत्तियों के स्वामी होंगे। धर्म पाना चाहते है तो उस पर से आप को मुट्ठी छोड़ देनी होगी। मुट्ठी छोडने से वस्तु छूटती है, यह भ्रम गलत है। पर दोनो हाथ लाडू का भरोसा मैं आप को देने वाला नहीं हूं। या तो अहम्-गर्व रखिये, या धर्म रखिये। धर्म रख कर आप

अपने लिए नहीं रह जाते, सब के लिए हो जाते है। उसके लिए अन्दर की वासनाओं को, स्पर्धा-ईर्ष्या को, मताग्रहों को, गिरोहबन्दी को, सबको छोड़ देना होगा। लेकिन छोड़ने से आप घाटे मे न रहेगे। क्योंकि छोड़ कर वह वस्तु आपको मिलेगी जिसकी कीमत अकूत है। वह है आपकी 'आत्मा'। अपने को खो कर सारे जगत का राज पाया तो क्या पाया ? क्योंकि तब वह धूल बराबर भी नहीं है।

—

विश्व-संस्कृति में जैन धर्म का स्थान*

[वक्ता—डॉक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी-लिट० (पेरिस)]

।।।।।।।।।।।।

जैन धर्म और जैन संस्कृति के विकास के पीछे शताब्दियों का इतिहास छिपा पड़ा है। श्री ऋषभदेव से लेकर बाईसवें अर्हत श्री नेमिनाथ तक महान तीर्थंकरों की पौराणिक परम्परा को छोड़ भी दें तो भी हम अनुमानत ईसवी सन से ८७२ वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक काल को देखते हैं, जब तेईसवें अर्हत्त श्री भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्ष की

---

* वक्ता ने अपने भाषण का सारांश अंग्रेजी में भेजा था, उसका हिन्दी अनुवाद ही यहां दिया गया है। —मन्त्री
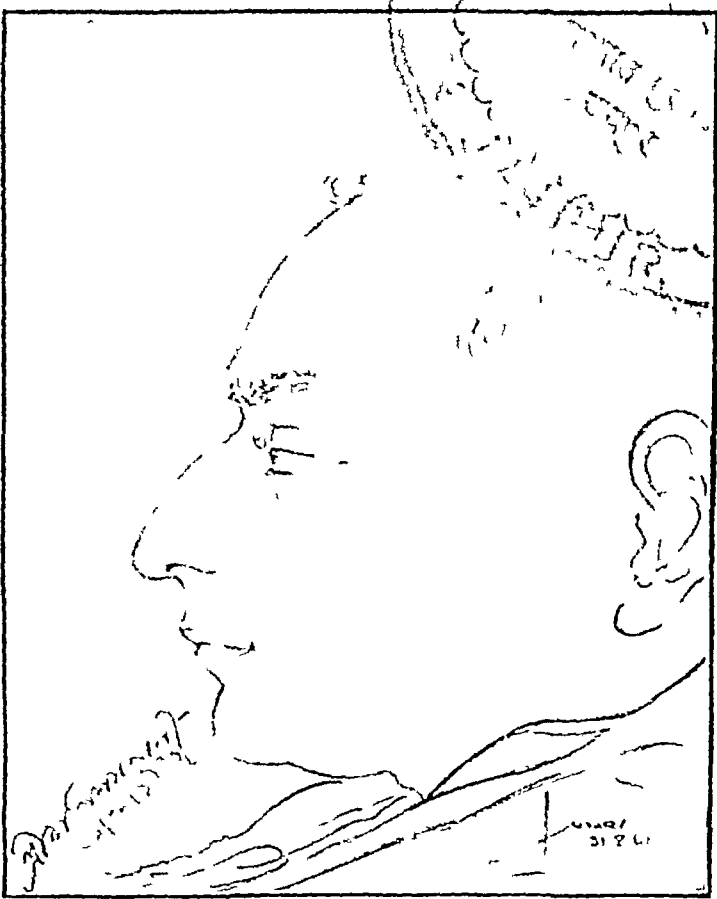
डॉ० कालीदास नाग

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

आयु में घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन् से ७७२ वर्ष पूर्व बिहार के अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने जिस निगन्थ सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसमे कालगति से उत्पन्न हुए दोषों का सुधार श्री वर्धमान महावीर ने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजय के कारण 'जिन' अर्थात विजयी कहलाते हैं। अतएव जैन धर्म, अर्थात् उन लोगों का धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, एक महान धर्म था जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धम के संस्थापक नहीं वल्कि एक प्राचीन धर्म के सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्य मे महावीर गौतम बुद्ध के कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जैन साहित्य मे कई स्थानों पर गौतम बुद्ध के लिए यह बतलाया गया है कि वे महावीर के शिष्य गोयम नाम से प्रसिद्ध थे। बाद मे उत्पन्न हुए पक्षपात और मतभेद के कारण बौद्ध लेखकों ने निगन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्ध का प्रतिपक्षी वनाया। वास्तव मे दोनो के दृष्टिकोणों मे फर्क था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का दुनिया के बड़े भाग मे प्रसार हुआ किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धर्म ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज ने कहा है, दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से जैन धर्म भी

एक अर्थ में विश्व-धर्म है। वह अर्थ यह है कि जैन धर्म न केवल सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों के लिए ही है वल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पातालवासियों के लिए भी है। विश्वात्मक सहानुभूति सहित यह व्यापक दृष्टि और वौद्धों का मैत्री का सिद्धान्त दोनों वातें जैन धर्म मे अहिंसा के आध्यात्मिक सिद्धात द्वारा मौजूद हैं। इसलिए जैन धर्म और वौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन वहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था। आज ईसवी सन् से पहले के १००० वर्षों मे हिन्दुस्तान में हुए आध्यात्मिक सुधार के आदोलनों को जो समझना चाहते है उनके लिए इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशिया भर मे उग्र राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेर का था, उसी समय एशिया मे कई महान द्रष्टा और धर्म-स्थापक उत्पन्न हुए जैसे ईरान में जरथुस्त्र और चीन मे लाओत्जे और कनफ्यूसियस।

जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म के सम्वन्ध के वारे मे हम देखते हैं कि सारा का सारा जैन साहित्य ब्राह्मण संस्कृति की ओर वौद्ध लेखकों के विचारों की अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनिज, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानों ने इस वात को जोरदार शब्दों मे स्वीकार किया है कि जन लेखकों ने भारतीय साहित्य को सम्पन्न वनाने मे वडा महत्वपूर्ण हिस्सा

अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अंग बचा हो जिसमे जैनियों का अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।" इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवन-चरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों, विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य मे भी जैन लेखकों की संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुंद कुद, जिनसेन, हेमचंद्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकों ने आधुनिक भारतवासियों के लिए एक बडी सास्कृतिक सम्पत्ति जमा कर के रख दी। इस बात का प्रतिपादन तपगन्छ के सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, लेखक और सुधारक श्री यशोविजयजी ने किया है, जिनका समय सन् (१६२४-८८) के वीच का है। ईसवी सन् से एक शताब्दी बाद जैनियों मे दिगम्बर और श्वेताम्बर जो दो फिर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुष ने किया था।

इस महान् साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्री की यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियों का, श्वेताम्बरियों का, स्थानकवासियों का, तेरापंथियों या किसी दूसरे संप्रदाय के लोगों का ही कर्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञान के सभी प्रेमियों का कर्तव्य है। जैनियों का सैद्धातिक साहित्य आज भी केवल कुछ विशेषज्ञों और विभिन्न संप्रदायों के लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त-

प्रतिपादन के अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है उसका भी आज तक पूर्ण रीति से अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू-तत्वज्ञान के कितने विद्यार्थी यह जानने की परवाह भी करते हैं कि जैनियो ने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकास मे कितना योग दिया है ? कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि रामायण और महाभारत की कथाओं, एवं पुराण और कृष्ण की कहानियों पर जैन लेखकों ने भी कितना लिखा है। भारतीय कला के कितने से विद्यार्थी यह जानते है कि प्राचीन अजन्ता-काल की चित्रकला और मध्य-युग की राजपूत कला के बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखको ने भारत की कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तर मे गुजराती, मारवाडी, और हिन्दी तथा दक्षिण मे तामिल, तेलगू और कनाडी आदि को साहित्य-सम्पन्न करने मे कितनी सहायता दी है। इन भाषाओं मे आज भी जैन धर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचन पूर्ण प्रबन्ध छपते हैं किन्तु अभी तक किसी भी जैन संस्था ने इस समस्त सामग्री की सर्व साधारण के लिए एक बृहद् सूची बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७३-७८ मे हस्तलिखित जैन ग्रन्थों का एक बडा संकलन बर्लिन की रायल लाइब्रेरी के लिए जार्ज बूल्हर ने किया था। और जैन साहित्य के विस्तृत विवरण का भी पहला प्रयत्न सन् १८८३-८५ के आसपास प्रोफेसर ए० वेबर ने किया था। सन १९०६ और

१६०८ के वीच मे पेरिस के विद्वान प्रो० ए० गुरीनॉट महोदय ने अपनी 'Studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमे उसके वाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया जब कि गत तीस वर्षों मे उत्तर और दक्षिण भारत मे नये हस्तलिखित जैन ग्रंथों और शिला-लेखों के ढेर के ढेर मिले है। हाल ही मे दक्षिण भारत मे जैन धर्म की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा० एम० एच० कृष्ण ने 'श्रवण वेलगोला मे गोमटेश्वर के मस्तकाभिषेक' पर खोजपूर्ण विवेचन किया है। डा० बी० ए० सालेतोर और श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगर ने भी दक्षिण भारतीय जैन धर्म के अध्ययन मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। (देखो—जैन एंटीक्वेरी, मार्च १६४०)। इण्डियन म्यूजियम के क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुनरन, और उसके मन्दिर" मे दक्षिण भारत के जैन स्मारकों के वारे मे वहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षी ने कई जैन गुफाओं और जैन चित्रों का पता लगाया है जिनमे तीर्थंकरो के जीवन की सामग्री है। खास तौर से पुदुकोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्नवासल ग्राम मे यह खोज हुई है।

अतएव जैन धर्म, जैन तत्वज्ञान और जैन संस्कृति के गम्भीर और सुव्यवस्थित अध्ययन के मार्ग मे जो अनेक समस्याएं खडी है, उनको सुलझाने के वारे मे मैं इस पवित्र सप्ताह

मे यहां उपस्थित जैन भाइयों के सम्मुख कुछ क्रियात्मक सुझाव पेश करता हूं—

(१) एक छोटी सी समिति का निर्माण किया जाय जिसका उद्देश्य भारतवर्ष के उत्तर और दक्षिण के जैन समाजो के अग्रगण्य नेताओं को सम्मिलित करने की दृष्टि से एक अखिल भारतवर्षीय जैन कांग्रेस या कान्फरेंस बुलाने की भूमिका तैयार करना हो।

(२) कलकत्ता मे एक जैन युवक संघ बनाया जाय जिसमे सभी खास खास सम्प्रदायो के प्रतिनिधि शामिल किये जायें। इस संघ को यह कार्य सौंपा जाय कि अखिल भारतवर्षीय जैन कांग्रेस मे प्रतिनिधित्व करने वाली संप्रदायो और संस्थाओं के विषय मे प्रारम्भिक रिपोर्ट और नोट तैयार करे।

(३) अलग अलग जगहो पर रहने वाले जैन कार्यकर्ताओ और सस्थाओ के साथ सम्पर्क बनाये रखने और बढाते रहने की दृष्टि से कलकत्ता से हिन्दी और अंग्रेजी में एक मासिक सूचना-पत्र निकाला जाय।

(४) जनता को और खासकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के रिसर्च वाले विद्यार्थियों को जैन धर्म और जैन संस्कृति के संबंध मे पुस्तकें और लेख लिखने का प्रोत्साहन देने के लिए कलकत्ता में एक छोटा पुस्तकालय और वाचनालय खोला जाय।

(५) अखिल भारतीय आधार पर प्रमुख जैन तीर्थों, मंदिरों और दूसरे ऐतिहासिक भग्नावशेषों की एक सूची तैयार की जाय और उनके सम्बन्ध मे लोकप्रिय व्याख्यानों का प्रबन्ध किया जाय। हो सके, तो लैन्टर्न स्लाइड और चित्रों का भी प्रबन्ध किया जाय।

(६) जैन कला और आर्कियोलाजी का एक म्यूजियम भी खोला जाय जो किसी भी सार्वजनिक स्थान मे हो सकता है, या उसके लिए एक नया भवन बनाया जा सकता है, जहां जैन पुस्तकालय और सूचना-विभाग भी रखा जा सकेगा। उस म्यूजियम के तत्वावधान मे समय समय पर हस्तलिखित जैन ग्रन्थों, चित्रों और दूसरी कलापूर्ण वस्तुओ का प्रदर्शन भी किया जा सकता है।

(७) एक केन्द्रीय जैन अन्वेषण-कोष कायम किया जाय जो निम्न जरूरतों को पूरा करे—

(अ) कुछ योग्य रिसर्च विद्वानों को मासिक छात्रवृति दी जाय।

(ब) सर्व साधारण की समझ मे आ जाय, ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय। इनके द्वारा जैन धर्म के सिद्धातों का प्रचार किया जाय और खासकर सारी मानवजाति के लिए अहिंसा का अमर संदेश दिया जाय।

(स) कलकत्ते के एक शान्त भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि-भवन कायम किया जाय, जहा बंगाल के बाहर से और विदेशों से खास तौर पर जैन धर्म और संस्कृति का ज्ञान हासिल करने के लिए आने वाले प्रसिद्ध विद्वानों को स्वागत पूर्वक ठहराया जाय। इस प्रकार का आतिथ्य-केन्द्र जैन समाज की शोभा बढ़ावेगा और भारतवर्ष के जैनियों तथा विदेशो के जैन धर्म प्रेमियों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध बढावेगा।

अनुवादक—श्री भँवरमल सिंघी

भगवान् महावीर की अहिंसा

[वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त', वर्धा]

अहिंसा आद्य धर्म है और मूल धर्म भी है। आद्य इसलिये कि मनुष्य ने या प्राणी ने सबसे पहिले इसे ही सीखा और मूल इसलिये कि धर्म के जो दूसरे आचार हैं, वे सब इसीलिये धर्म कहलाते है कि उनके मूल मे अहिंसा है। सच पूछा जाय तो अहिंसा ही मनुष्यत्व का चिह्न है।

यह अवश्य शर्म की बात है कि मनुष्यों मे जहाँ अहिंसा के उच्च उपासक है, वहाँ सामान्यत. मनुष्य ही सब से क्रूर प्राणी बन गया है। यों तो हम क्रूर पशुओं मे शेर, बाघ आदि प्राणियों

को लिया करते हैं पर मनुष्य की क्रूरता के आगे इनकी क्रूरता पानी भरेगी। शेर आदि की क्रूरता में न तो इतना असंयम है और न इतनी मूर्खता जितनी मनुष्य की क्रूरता में है। शेर आदि तभी शिकार करते है, जब वे भूखे होते हैं। पेट भरने पर गुफा मे पड़े रहते है। लेकिन मनुष्य का पेट कभी भरता ही नहीं, लखपति, करोडपति होने पर भी वह दुनिया को लूटते ही रहना चाहता है। राजा बनने पर सम्राट् होना चाहता है, सम्राट् बनने पर दूसरे सम्राटों को मिटा देना चाहता है। अगर सारी पृथ्वी उसके पेट मे आ जाय तो वह खाने की नीयत से सूर्य, चन्द्र, तारो की तरफ भी नजर दौड़ायेगा। बेचारे शेर का क्या दम है जो ऐसे भयकर प्राणी मनुष्य की बराबरी करे?

क्रूरतापूर्ण मूर्खता मे भी शेर मनुष्य की बराबरी नहीं कर सकता। शेर सब का शिकार करेगा पर अपनी जाति के प्राणी का अर्थात् दूसरे शेर का शिकार न करेगा, पर मनुष्य तो मनुष्य का शिकार करता है, और उसे नाना तरह से चूसता है। नाना तरह से लाखों आदमियों को मार डालता है, धर्म के नाम पर भी उन्हे नहीं छोडता। ये सब क्रूरताएँ और मूर्खताएँ शेर मे कहाँ हैं? इसीलिये शायद जैन शास्त्रो का मत है कि शेर मे अधिक से अधिक पाचवें नरक तक जाने की योग्यता है जब कि मनुष्य में सातवें नरक तक की। मच्छ मे भी यह योग्यता मानी गई है पर उसमे मनुष्य के साथ एक तरह की

समानता है। मनुष्य मनुष्य का शिकार करता है, मच्छ मच्छ का शिकार करता है।

कुछ भी हो, पर इसमे शक नहीं कि मनुष्य काफी क्रूर प्राणी है। फिर भी वह पशुओं की अपेक्षा संयम में अधिक बढ़-चढ़ गया है। दूसरे के अधिकारों की परवाह करना मनुष्य में ही अधिक से अधिक सम्भव है और बहुत से मनुष्य इस तरफ बढ़े भी हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यजाति के सौभाग्य से उसमे अनेक महात्मा पैदा होते रहे हैं जो पशुता और बर्बरता से छूटकर दूसरे मनुष्यों को भी छुडाते रहे हैं। उन्होंने खुद जी कर भी दूसरों को जीने देने का पाठ पढाया है। उस पाठ को जीवन मे उतार कर बताया है। ऐसे महात्माओं में जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का नाम अधिक से अधिक चमकता है।

महावीर स्वामी अहिंसा के महान् आचार्य हैं। इसीलिये जैन धर्म अहिंसा धर्म के नाम से कहा जाता है। पर अहिंसा के नाना रूप हैं। उन सब रूपों का समय समय पर जीवन मे उपयोग भी किया जाता है। पर हर एक आदमी के जीवन मे अहिंसा का कोई एक रूप इस प्रकार चमकने लगता है कि दर्शकों का दूसरे रूप की तरफ ध्यान भी नहीं जाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अहिंसा के किसी एक रूप की साधना महात्मा को करनी पडती है, इसलिये उसके अनुयायी समझने लगते हैं कि बस, इतनी ही अहिंसा है।

महावीर स्वामी ने अहिंसा के ऊँचे से ऊँचे रूप को जीवन मे उतार कर बताया है पर अहिंसा को न तो उन्होंने अव्यवहार्य बनने दिया, न किसी एकान्तवाद का समर्थन किया। वे अहिंसा के एक रूप पर खडे होकर भी अंगुली से अहिंसा के सभी रूपों की तरफ इशारा करते रहे हैं, परन्तु उनको न समझ कर बहुत से मनुष्यों ने बडी गलती की है।

एक आदमी किसी को अङ्गुली से रास्ता बताये, पर रास्ता पूछने वाला अङ्गुली की तरफ रास्ता न देख कर यही देखे कि अङ्गुली मे ही रास्ता है या जहाँ तक अङ्गुली है वहीं तक रास्ता है तो जिस प्रकार वह भूल करेगा, उसी प्रकार हम महात्माओं के पथ-निर्देश को समझने मे भूल करते हैं। हमें उनका संकेत समझना चाहिये, पूरी दिशा पर नजर डालना चाहिये। जहाँ वे खड़े हैं, वहीं रास्ता देख कर न रह जाना चाहिये।

इसीलिये महावीर स्वामी ने पद-पद पर अनेकान्त पर जोर दिया है। उनका अहिंसा धर्म केवल बाह्याचार पर निर्भर नहीं है किन्तु बाह्याचार के भीतर रहने वाले परिणाम और उसके ध्येय पर निर्भर है।

जैनाचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस विषय को बहुत ही साफ शब्दो मे बतलाया है। उनका कहना है—

कोई मनुष्य हिंसा न करके भी हिंसा का फल पा लेता

है, कोई हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता। किसी की हिंसा थोडी मालूम होती है, पर उसका फल बड़ा होता है, किसी की हिंसा महाहिंसा मालूम होती है, पर फल थोड़ा होता है। एक ही हिंसा किसी को तीव्र फल देती है, किसी को मन्द फल देती है। किसी की हिंसा हिंसाफल होती है, किसी की हिंसा अहिंसाफल होती है। हिंसा क्या है? हिंसा किसकी की जा रही है? 'हिंसक कौन है? उस का फल क्या होने वाला है?—इन सब बातों का अच्छी तरह तत्त्व-दृष्टि से विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिये।*

इससे मालूम होता है कि जैन धर्म हिंसा-अहिंसा के चार भेद मानता है—अहिंसारूप अहिंसा, हिंसारूप अहिंसा, अहिंसारूप हिंसा और हिंसारूप हिंसा। पहिले दो भेद

* अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफल भाजनं न स्यात्॥ ५१॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्यैव सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥ ५६॥
अवबुध्य हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवारहमानै निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥ ६०॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अहिंसा के हैं जो कि कर्तव्य हैं, पिछले दो भेद हिंसा के हैं, इसलिये अकर्तव्य हैं—पाप हैं।

महावीर स्वामी की अहिंसा क्या है, वह कितनी व्यापक और व्यवहार्य है, इसका पता उपर्युक्त वाक्यों से मिल सकता है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि हिंसा-अहिंसा के विषय मे जैन शास्त्रों मे चार भङ्ग हैं—१—हिंसा अहिंसाफल, २—अहिंसा हिंसाफल, ३—अहिंसा अहिंसाफल, ४—हिंसा हिंसाफल।

हिंसा करके भी हमे अहिंसा का फल मिल सकता है। न्याय-रक्षा के लिये कभी हिंसा करना पड़े तो वह अहिंसा ही समझना चाहिये क्योंकि न्याय की रक्षा न की जाय तो उससे कई गुणी हिंसा होती है। उस हिंसा को रोकने के कारण उस अल्प हिंसा को अहिंसा कहते हैं। भगवान राम अगर रावण का वध न करते तो घर घर रावण पैदा होते, घर घर की सीताओं का शील नष्ट होता कुटुम्ब-संस्था नष्ट हो जाती।

इसी प्रकार अहिंसा भी हिंसाफल हो जाती है। अन्याय और अन्यायी की रक्षा करने में अहिंसा हिंसा ही है।

यही कारण है कि जैन धर्म मे जहाँ वायु और जल के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों को भी रक्षा करने का विधान है, वहाँ न्याय-रक्षा या जन-कल्याण के लिये मनुष्य-वध तक के लिये

भी छूट है। जैन पुराणों को देखने से पता चलता है कि जैनियों के जितने महापुरुष है, जिन्हे शलाका पुरुष कहते है, वे सब के सब क्षत्रिय हैं, जिन्होंने बडे बड़े युद्ध भी किये हैं पर अन्याय से किसी कीड़ी को मारने मे भी जिन्हे पाप मालूम होता रहा है।

विधान के अनुसार भी जैन शास्त्रों मे हिंसा के चार भेद किये गये हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी, विरोधी। किसी निरपराध प्राणी को इरादापूर्वक मारना संकल्पी हिंसा है, जैसे कि मास-भक्षण के लिये या शिकार के लिये प्राणी का घात करना। रोटी पकाने या सफाई करने मे जो आनुषंगिक हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। खेती तथा अन्य उद्योगों मे जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है। आत्म-रक्षण के लिये या न्याय-रक्षण के लिये युद्ध मे जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है।

इन चार हिंसाओं मे संकल्पी हिंसा पर ही जोर दिया जाता है, बाकी तीन हिंसाएँ यथा-सम्भव कम करनी चाहिये, ऐसा ही विधान है। हा, महावीर स्वामी ने धर्म-प्रचार करने के लिये तथा लोगों मे शान्ति, न्याय, निःस्पृहता का प्रचार करने के लिये जो साधु-संस्था खड़ी की थी, उसमे अवश्य ही आरम्भी, उद्योगी, विरोधी हिंसा के त्याग को भी असाधारण बताया गया था। और खुद महावीर स्वामी तो उससे भी

अधिक मात्रा में अहिंसा का पालन करते थे। इसका मत-लब यह कि लोग समझें कि अहिंसा का पालन अधिक से अधिक कितना तक किया जा सकता है। पर वह तो एक तरह का रिकार्ड है। मोटर गाडी की तेज गति का रिकार्ड अगर दो सौ या तीन सौ मील हो तो भी कलकत्ते की सड़कों पर उसका उपयोग नहीं करने दिया जायगा। वह बिलकुल खुली जगह के लिये है। महावीर स्वामी सरीखे उन्मुक्त महापुरुष के जीवन मे जो रिकार्ड दिखाई दिया, वह समाज की व्यवस्था सम्बन्धी जिम्मेवारी को उठाने वाले शासक या नगर-रक्षकों मे नहीं दिखाई दे सकता। इसी लिये जैन धर्म हर बात मे द्रव्य-क्षेत्र-काल—भाव पर जोर देता है। साधु के लिये जो अकर्तव्य हो सकता है, वह एक श्रावक या गृहस्थ के लिये कर्तव्य हो सकता है। एक जगह जो अकर्तव्य है, दूसरी जगह वही कर्तव्य हो सकता है। एक समय जो अकर्तव्य है, दूसरे समय वही कर्तव्य हो सकता है। दुर्भाव से जो अकर्तव्य है, वही सद्भाव से कर्तव्य हो सकता है। इस प्रकार हर एक बात का, हर एक आचार का, या हिंसा-अहिंसा का विचार अनेकान्त दृष्टि से जैन धर्म ने किया है। उसे अच्छी तरह समझ कर ही आप महा-वीर स्वामी की अहिंसा को समझ सकते हैं।

कोई भी महापुरुष हो, वह जीवन के सभी रूपों का चित्रण

अपने एक जीवन मे नहीं कर सकता। वह कोई एक रूप चुन लेता है और अपने अनुयाइयों को योग्यतानुसार और इच्छानुसार अच्छे रूप चुनने का अवसर मिले, विधान मे ऐसी गुजाइश रखता है। महावीर स्वामी स्वयं नग्न रहते थे पर इन्द्रभूति गौतम आदि अपने शिष्यों को कपड़े पहनने की भी उन्होंने गुजाइश दे रक्खी थी। मोक्ष का मार्ग ऐसा प्रशस्त बतलाया था कि गृहस्थ-वेष तथा अन्य धर्मों की अनेक तरह की साधु-संस्थाओं के वेष से भी मोक्ष-मार्ग मे कोई वाधा न मानी थी। इस प्रकार अहिंसा की नाना साधनाओं मे से रुचि और परिस्थिनि के अनुसार उन्होंने कुछ साधनाएँ अपने लिये चुन लीं किन्तु विधान हर एक साधना का बनाया जिससे हर परिस्थिति मे अहिंसा का पालन किया जा सके और समाज मे सुव्यवस्था भी कायम रहे।

महावीर स्वामी की अनेकान्त रूप अहिंसा को समझने मे आज का जैन समाज भूला हुआ है। उसकी नजर सिर्फ द्रव्य हिंसा अर्थात् वाहरी हिसा-अहिंसा पर है। वे अहिंसा की ओट मे छुपी हुई हिंसा को और हिंसा की ओट मे छुपी हुई अहिंसा को नहीं देखना चाहते। जैन समाज ही क्या, यह बीमारी इस देश भर मे कुछ कुछ बढ़ रही है। अहिंसा की ओट मे कायरता राज्य जमा रही है और वीरता पर हिंसा की छाप मारी जा रही है। महावीर स्वामी की अहिंसा ऐसी वहिर्मुखी

नहीं है। फलाफल—विवेक और परिणामों का विचार किये विना उसका समझना और पालन करना असम्भव है।

आज हमारे देश मे हिंसा-अहिंसा के ऊपर वहुत विवाद चल रहा है, इसमे सन्देह नहीं कि पुराने जमाने की अपेक्षा आज दुनिया की समस्याएँ वहुत जटिल हैं फिर भी ऐसी कोई वात नहीं है जिससे हिंसा या अहिंसा के एकान्तवाद का समर्थन करना पड़े। महावीर स्वामी की अहिंसा और अन्य महात्माओ की अहिंसा के अध्ययन करने से, काफी विचार करने से इस विषय मे मेरे जो कुछ विचार वंध गये हैं, उन्हें मैं लिख लाया हूं। उन्हें पढ़ देने से मेरे विचार वहुत कुछ साफ हो जायगे।

१—प्राय सभी लोग अमुक मात्रा मे अहिंसावादी हैं और सभी अमुक मात्रा में हिंसा को क्षन्तव्य मानते हैं। इसलिये अहिंसा-हिंसा का विवाद उसकी मात्रा का विवाद है, एकान्त अहिंसा-हिंसा का नहीं।

२—जो न्याय का अनुकरण करती है, वह वाहर से हिंसा होकर भी अहिंसा है क्योंकि उससे वहुजन-हित होता है अर्थात् हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक होती है और अन्याय का मार्ग रुकता है अर्थात दूसरी हिंसाएँ रुकती हैं। इसलिये अहिंसक बनाने की अपेक्षा न्यायी बनाना ज्यादा जरूरी है। जहां

न्याय है, बहुजन-हित है, सत्य है,. वहाँ हिंसा भी अहिंसा है, जहाँ न्याय आदि का विरोध है, वहाँ अहिंसा भी हिंसा है।

३—जहाँ न्याय की विजय हिंसा और अहिंसा से एक समान हो सकती हो और हम मे दोनों की शक्ति हो, वहाँ अहिंसा का मार्ग ही पकड़ना चाहिये।

४—हमे विश्वास रखना चाहिये कि बहुत से काम जो आज हिंसा से ही सफल हो सकते हैं, वे एक दिन अहिंसा से भी सफल हो सकेंगे। इसलिये पुराने जमाने में कोई कार्य हिंसा से ही सफल हुआ, इसलिये आज भी हिंसा से ही सफल होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। हमे अपनी परिस्थिति, शक्ति और फलाफल-विचार के द्वारा अहिंसा की सात साधनाओं मे से उचित साधना चुन लेनी चाहिये।

अहिंसा की सात साधनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) आदर्शदर्शनी, (ख) आग्रहिणी, (ग) वैफल्यदर्शनी, (घ) प्रेमदर्शनी, (ङ) उपेक्षणी, (च) शिक्षणी, (छ) संहारिणी।

क—अपना जीवन ऐसा निष्पाप, अहिंसक, दयालु सत्याचरण मय बना कर रक्खा जाय कि उसे देख कर लोग अहिंसक जीवन की ओर आकर्षित होने लगें, यह आदर्शदर्शनी साधना है।

ख—पाप, अन्याय, अत्याचार के मार्ग में इस प्रकार अड जाना जिससे पापी को पाप करना कठिन हो जाय। अगर

वह हमे मार कर पाप कर' भी ले तो उसके अन्तस्तल में ऐसा दंश होता रहे कि वह पाप का मार्ग सदा के लिये छोड़ दे। इसे सत्याग्रह भी कहते हैं।

ग—अपनी दृढ़ शक्ति और निर्भयता से दूसरे के दिल पर यह छाप डाली जाय कि वह अन्याय करके भी उसकी निष्फलता का अनुभव कर सके। जैसे किसी ने हमे तमाचा मारा और हमनें दूसरा गाल आगे करके कहा—लीजिये, एक तमाचा और मारिये। यह वैफल्यदर्शनी साधना है।

मारने वाले ने तमाचा इसलिये मारा था कि पिटने वाला डर जायगा, झुक जायगा। पर जब वह देखता है कि तमाचे ने तो उसमे भय की अपेक्षा निर्भयता को ही जगाया है, तब तमाचे की विफलता से वह हट जाता है।

घ—पापी के साथ ऐसी सहानुभूति दिखाई जाय कि वह हमे अपना मित्र या उपकारी समझने लगे और हमारी सहानुभूति, उदारता आदि के आगे लज्जित हो जाय। इस तरह पाप से विरक्त हो जाय, यह प्रेमदर्शनी साधना है।

ङ—पापी पर ऐसी उपेक्षा बताई जाय कि वह पाप की निष्फलता समझ सके, जिस प्रकार महावीर स्वामी उपसर्ग आने पर करते थे। यह उपेक्षणी साधना है।

च—उपदेश दे कर दूसरों को पाप के मार्ग से हटाया जाय, यह शिक्षणी साधना है।

छ—अन्याय या पाप को दूर करने के लिये या उसके फल से बचने-बचाने के लिये अन्यायी या पापी को दंड दिया जाय, जैसा कि रामचन्द्रजी ने सम्राट् रावण को दिया था। यह संहारिणी साधना है।

अहिंसा की इन सात साधनाओं में किस साधना का स्थान कहाँ है, किसका उपयोग कब करना चाहिये, यही सब से बड़ी महत्त्व की बात है। इस विवेक के बिना, सत्य के बिना, अहिंसा का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। भगवान् के बिना भगवती विधवा है; सत्य के बिना अहिंसा विधवा है।

अमुक समय या अमुक जगह के लिये किसी एक साधना पर जोर देना ठीक कहा जा सकता है पर दूसरी साधनाओं की उपयोगिता का विरोध न करना चाहिये।

ये जो सात साधनाएँ हैं, उनमें संहारिणी के सिवाय सभी साधनाएँ प्रबोधनी साधनाएँ हैं। इन दोनों में विरोध नहीं है। जहाँ जिसकी जैसी उपयोगिता हो, वहाँ उसका वैसा उपयोग करना चाहिये।

५—प्रायः सभी धर्मों ने अहिंसा पर जोर दिया है पर सभी ने प्रबोधनी और संहारिणी दोनों साधनाओं का विधान बताया है। अन्याय के विरोध के लिये या न्याय के रक्षण के लिये बाहरी हिंसा को भी स्थान दिया है।

६—अन्याय के विरोध में हम हिंसा करें या न करें पर

हिंसा करने का अर्थात् अहिंसा की संहारिणी साधना का हमे अधिकार अवश्य है। अहिंसा के नाम पर हमे उचित हिंसा करने का—संहारिणी साधना का अधिकार न खोना चाहिये।

७—हमारे दंड-विधान मे जीवन-शुद्धि का अधिक से अधिक अवसर होना चाहिये। हिंसात्मक दंड द्वारा सिर्फ बदला लेने की भावना न हो। पर इसका भी खयाल रखना चाहिये कि अपराधी के मन से पाप-भय नष्ट तो नहीं होता, साथ ही जिसका अपराध किया गया है उसके मन मे असंतोष तो नहीं रहता? ये दोनो ही सम्भव है, इसलिये दंड-विधान मे उचित हिंसा को स्थान रहना चाहिये। हा, हम यह कोशिश करें कि लोग अपराधी होने पर प्रायश्चित्त के समान स्वेच्छा से वह दंड सहने को तैयार रहें। मतलब यह कि दंड-विधान मे से हिंसा को हटाने की जरूरत नहीं है किन्तु जनता को इतना तैयार करने की जरूरत है कि लोग उसे प्रायश्चित्त समझ कर स्वीकार करें।

८—हम चाहे प्रबोधनी साधना अर्थात अहिंसा रूप अहिंसा करते हों, चाहे संहारिणी साधना अर्थात् हिंसा रूप अहिंसा करते हों, हमे दोनो मे सतर्क और फलाफल-विवेकी बनना चाहिये। अगर हम हिंसा रूप अहिंसा का पालन या आन्दोलन करते हों तो निम्न लिखित बातों का खयाल रखना चाहिये—

(क) न्याय कराने के नाम पर हम इतने उत्तेजित तो नहीं हैं कि जरूरत से ज्यादा हिंसा कर जायँ और चिरस्थायी वैर बसा ले।

(ख) प्रारम्भिक जागृति के लिये अहिंसा रूप आदोलन ही विशेष उपयोगी होता है।

(ग) झूठे भ्रमों से जहां मनुष्य विरोधी बन जाता है, वहां अहिंसा बहुत सार्थक होती है। अगर अपने दिल में प्रेम हो तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। धर्म-प्रचार में इसी नीति की जरूरत है। धर्मान्धता, जात्यन्धता आदि के कारण जहां झगडे होते हैं, वहां भी अहिंसा रूप नीति की ही अधिक उपयोगिता है। हां, जहां स्वार्थान्धता है, वहां कुछ हिंसा रूप नीति की भी आवश्यकता होती है।

(घ) ऐसे अवसर आते हैं, जब हम हिंसा रूप अहिंसा आवश्यक होने पर भी नहीं कर सकते। उस समय अहिंसा रूप अहिंसा का उपयोग करना-- शान्त आदोलन करना उचित है। इसलिये अमुक समय तक हिंसा रूप आदोलन बन्द ही रखना चाहिये।

(ग) इसका खयाल रहे कि अपनी शक्ति बता कर बडप्पन सिद्ध करने के लिये हिंसा न हो।

(घ) न्याय की मुख्यता है कि नहीं ? ऐसा न हो कि संहारिणी साधना के नाम पर हम स्वार्थ-साधना करने बैठ जायँ।

६—अहिंसा रूप अहिंसा अर्थात् प्रबोधनी साधना में भी हमे निम्न लिखित बातों का विचार करना चाहिये।

(क) भगवती अहिंसा के साम्राज्य के लिये तीन बातों की जरूरत है—

(१) रंग, राष्ट्र, प्रान्त तथा अन्य जातीयताएँ नष्ट हो जाँय, धर्मान्धता भी न रहे, जिससे अन्याय व्यक्ति तक सीमित रहे, वर्ग अन्यायी न बने।

(२) पहिला काम हो जाने पर जन्म से ही मनुष्य को ऐसा शिक्षण दिया जाय जिससे उसे अन्याय से घृणा हो जाय, खास कर मार-पीट या खून-खराबी न करे।

(३) इस प्रकार समाज सुसंस्कृत होने पर भी अगर कोई व्यक्ति अन्यायी हो जाय तो कहीं भी उसे पीठ-बल न मिले। इस प्रकार समाज का न्यायी संगठन व्यक्ति को अत्याचार से विरक्त होने के लिये विवश करदे।

ये तीन बातें जितनी मात्रा मे सफल होंगी, अहिंसा रूप व्यवस्था उतने ही अंशों मे सफल होगी। इनके बिना अगर हम अहिंसा रूप व्यवस्था करने जायँगे तो असफल होकर अहिंसा को बदनाम करायगे।

(ख) व्यक्तिगत रूप मे अहिंसा का पालन सरल है। एक

व्यक्ति अन्याय को सह कर अक्षुब्ध रह सकता है पर समाज मे इतनी सहिष्णुता होना कठिन है। इसलिये वैयक्तिक साधना को सामाजिक साधना बनाने में खूब सतर्क रहना चाहिये। यह न भूलना चाहिये कि समाज के लिये न्याय-रक्षा मुख्य है, चाहे वह अहिंसा से हो या हिंसा से। जनता को न्याय की पहिली जरूरत है, अन्यायी के सुधार की पीछे। अन्यायी का सुधार भी वह न्याय-रक्षा के लिये चाहती है।

(ग) अहिंसा रूप कार्य मे भी सफलता की वहीं अधिक सम्भावना रहती है, जहाँ उसके पीछे हिंसा-शक्ति का बल रहता है। वह बल जितना शिथिल होता है, अहिंसा उतनी ही असफल होती है क्योंकि कमजोर की अहिंसा को लोग अहिंसा नहीं समझते, उसे निर्बलता का परिणाम समझते हैं। हिंसा-शक्ति के बिना अगर हमें कभी न्याय भी मिलता है तो वह दया कहलाता है, जिससे लेनेवाले में दयनीयता और देनेवाले मे दुरभिमान पैदा होता है। इतना ही नहीं, वह अपनी स्वार्थ-वासना पर छल से परोपकार का आवरण डालता है, पर न्याय नहीं करता।

गाय हमें खेती के लियें बछड़े देती है, पीने को दूध देती है और अहिंसक रहती है। इससे हमारे दिल पर यह असर हुआ है कि हमने गो-वध छोड़ दिया है, गो माता कहने लगे हैं, कभी कभी उसकी पूजा भी कर देते हैं पर उसका चूसना

नहीं छोड सके है। अगर कोई हिंसा-शक्ति रहित होकर अहिंसा से किसी का दिल पिघला दे, तो इतना ही होगा कि उस अहिंसक की तारीफ की जायगी, मर न जाय इस खयाल से रक्षा भी होगी पर उसका चूसना न छोडा जायगा, वह स्वतंत्र न बनाया जायगा।

अन्यायपूर्ण हिंसा से नर-संहार होता है और सभी की हानि होती है। इसलिये जब इस हिंसा से ऊब कर हिंसक लोग समभावी समझौता कर लेते है तब भी हिंसाशक्ति-हीन अहिंसकों को वे चूसते रहते हैं और कहते रहते है कि हम तो इन निर्बलों की रक्षा और भलाई करते है। इस प्रकार बलवानों मे ही अहिंसा का साम्राज्य जमता है। हिंसाशक्ति-हीन अहिसकों में तो निर्बलता, कायरता, झुंझलाहट और फूट ही फैलती है अथवा वे दयनीय बन कर कुछ टुकड़े ही पाते हैं।

यद्यपि हिंसा-शक्ति वाले भी कुचले जा सकते है पर बहुत समय तक उनको ऐसा दबा कर नहीं रक्खा जा सकता, जिससे अन्यायी शोषण कर सके और आर्थिक लाभ में रहे। शेरनी को हम मार सकते हैं, पिंजड़े मे कैद कर सकते है पर उसे ऐसा नहीं दुह सकते कि हम आर्थिक लाभ में रहे। उसे कैद रखना हमें भारी पड जाता है।

इस मुद्दे का सार यह है कि हमे अधिक से अधिक अहिंसक बनना चाहिये पर उसकी सफलता के लिये, उसे प्रभाव-

शाली बनाने के लिये अधिक से अधिक शक्तिशाली
भी बनना चाहिये। संयम और शक्ति दोनों के समन्वय के
बिना अहिंसा की विजय नहीं हो सकती। इसी भाव को
बतलाने के लिये मैंने भगवती अहिंसा की मूर्त्ति के एक हाथ
मे शान्ति दिखलाई है और दूसरे हाथ मे गदा दे कर शक्ति
बतलाई है। यह मूर्ति सत्याश्रम, वर्धा के धर्मालय मे विराज-
मान है।

(घ) अगर कभी राजकीय अन्याय को हटाने के लिये
अहिंसा-रूप क्रान्ति करना हो तो यह देख लेना चाहिये कि
सब जनता मे एक महात्मा के बराबर अटूट सहनशीलता
है कि नहीं और वह दो-चार वर्ष भी टिक सकती है या
नहीं ? इस बात का भी खयाल रखना चाहिये कि सामूहिक
उत्साह की उम्र बहुत बड़ी नहीं होती, उसके ठंडे पड़ते ही
आन्दोलन निष्फल कर दिया जाता है। इसलिये कार्य-क्रम
ऐसा हो कि उसमे अधिक समय तक के उत्साह की आवश्य-
कता न रहे। अगर ऐसा कार्यक्रम अपने पास न हो या
जनता की तैयारी न होने से वह अमल मे न आ सकता
हो या वह मानव-स्वभाव के विरुद्ध पडता हो तो अहिंसा
रूप क्रान्ति मे हाथ न डालना चाहिये या उस पर बहुत जोर
न देना चाहिये। साधारणतः अहिंसा रूप आन्दोलन मे देश
को समस्त जनता का पूरा सहयोग चाहिये। अगर सौ मे

दस आदमी भी हमारे विरोधी हों या पीडक के साथ सह-योग करने को राजी हों तो भी पीड़क का अन्याय चालू रह सकता है। नव्वे का असहयोग निरर्थक जा सकता है। हिंसा रूप आन्दोलन मे सौ मे दस का भी साथ हो तो क्राति सफल हो सकती है।

इसके अतिरिक्त एक वात यह भी है कि हिंसा का शस्त्र सरल है, वहुजन उसका सरलता से उपयोग कर सकते हैं। अहिंसा का शस्त्र महात्मा ही चला सकते हैं, उसके लिये विशाल प्रेम चाहिये। साधारण लोगों मे मोह तो होता है जिसका कुटुम्वी और मित्रों मे उपयोग किया जाता है, पर प्रेम नहीं होता। मारते मारते मनुष्य वहुत कुछ सहन कर जाता है पर शक्ति रहते हुए भी विना मारे सहन कर सकना—वह भी अन्यायी का अन्याय, यह हर एक के वश की वात नहीं है। अहिंसा रूप आन्दोलन छेडने के पहिले हमें इस मानव-प्रकृति का भी खयाल रखना चाहिये।

(ङ) अधिकाश मनुष्य ऐसे होते हैं कि हम अहिंसा रूप उन से उतना न्याय नहीं पा सकते जितना हिंसा रूप आन्दोलन मे हार कर भी पा सकते है। अफ्रिका मे वोअर हार कर भी जो पा सके, वह हिन्दुस्तानी लोग जीत कर भी नहीं पा सके या जो थोड़े वहुत टुकड़े पा सके, वह भी सुरक्षित न रहने

पाये। इसलिये यह भी देखना चाहिये कि किस प्रकृति के लोगों से काम पडा है।

(च) अहिंसारूप आन्दोलन में यह सुभीता है कि इसमे सहन कम करना पडता है। हिंसारूप आन्दोलन मे सहन ज्यादा करना पडता है पर बहुत बार ऐसा होता है कि हिंसारूप आन्दोलन मे एक साथ बहुत सहने की अपेक्षा अहिंसारूप आन्दोलन मे धीरे धीरे सहने की मात्रा बहुत हो. जाती है। इतने पर भी फल नहीं के बराबर होता है। इसलिये फलाफल विचार कर के और सहन करने की मात्राओं का विचार कर के आन्दोलन के रूप का निश्चय करना चाहिये।

अहिंसा के व्यावहारिक रूप के विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और इस प्रकार की सूचनाएँ दी जा सकती है पर व्याख्यान में तो मैं सिर्फ दिशा बतला सकता हूं। जिन शब्दों मे मैं भगवती अहिंसा का वर्णन कर रहा हूं और आधुनिक युग को देखते हुए जिन शब्दों में ये सूचनाएँ लिखी हैं, ठीक उन शब्दों मे जैन शास्त्रों का वर्णन नहीं मिलता, पर हिंसा-अहिंसा का जैसा विस्तृत और विवेचनात्मक वर्णन जैन शास्त्रों में पाया जाता है, जैनियों के कथा-साहित्य को देखते हुए जो अहिंसा का व्यवहार्य रूप हमें दिखाई देता है, उनमे हिंसा भी अहिंसा और अहिंसा भी हिंसा कह कर जो भगवती अहिंसा का व्यापक और असली रूप बनाया गया

है, कार्य पर नहीं किन्तु कार्य के मूल मे रहने वाले भाव पर जिस प्रकार हिंसा—अहिंसा का निर्णय किया गया है, उससे महावीर स्वामी की उस व्यापक अहिंसा का पता लगता है जो बुद्धिगम्य है, अनेकान्तमय है, व्यवहार्य है। उसी के अनुसार ये सूचनाएँ कही जा सकती है जिनका उल्लेख मैंने यहाँ किया है।

आज देश मे जो अहिंसात्मक आन्दोलन चल रहा है, वह जैन धर्म मे वर्णित व्यापक अहिंसा का एक अंश है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि अहिंसा के किसी एकाध अंश को लेकर ही किसी एक समय काम लिया जाता है पर दूसरे अंगों को ध्यान मे न रखना या उनका एकान्तिक विरोध करना अहिंसा की उपासना नहीं है क्योंकि इसमे अनेकान्त नहीं है, भगवान सत्य नहीं है। महावीर स्वामी एकान्तवाद के विरोधी थे बल्कि प्राय सभी धर्म-संस्थापक एकान्तवाद के विरोधी रहे। हम समय, शक्ति आदि के अनुसार अहिंसा के किसी भी एक रूप की साधना करे पर हमे दूसरे अंगों की साधना की उपेक्षा न करनी चाहिये, विरोध तो करना ही नहीं चाहिये। बल्कि सभी तरह के साधक सहयोग से काम लें। इसी मे भगवान सत्य की सेवा है और उसमे हमारा या जगत का कल्याण है।

महावीर स्वामी की इस व्यापक अहिंसा पर नजर डालने

से यह पता लगता है कि ऐसी अहिंसा के पास कायरता नहीं फटक सकती, न इससे कोई देश गुलाम बन सकता है। आज मुझे समय नहीं है, नहीं तो, मैं यह बतलाता कि 'जैन धर्म की अहिंसा से भारत गारत हुआ' यह कथन कितना मिथ्या है। इस विषय मे मैं इतना ही कहूंगा कि वर्ण-व्यवस्था का दुरुपयोग, अन्धविश्वास, छुआछूत का भूत और फूट हमारी पराधीनता के कारण हैं, सिकन्दर से ले कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के आक्रमणों तक जिन जिन हमलों मे हम हारे, उन सब में ये ही कारण हैं, अहिंसा नहीं। और खासकर महावीर स्वामी की अनेकांतमय अहिसा का तो उन पराजयों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हा, इतना अवश्य कहूंगा कि महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित अहिसा मे और आजकल जैन समाज मे जो अहिंसा दिखाई देती है उस अहिंसा मे जमीन-आसमान का अन्तर है। और यह दुर्दशा सब जगह है। ईसा कहाँ और ईसाई कहाँ? मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी कहाँ और हिन्दू कहाँ? हजरत मुहम्मद कहाँ और मुसलमान कहाँ? मैं तो आज आज के जैनियों की नहीं, महावीर स्वामी को अहिंसा के विषय मे कहने बैठा था या खड़ा था, सो कह दिया।

मैंने आपका बहुत समय खा लिया और बदले मे बहुत सा परोस दिया, खासकर जल्दी जल्दी बोल कर तो आपको

परेशान ही कर दिया। इस तरह जल्दी समय खाना और परोसना दुहरी हानि है या दुहरा लाभ या इकतरफी हानि या इकतरफा लाभ, यह मैं नहीं जानता पर लाभ भी मात्रा से अधिक होने पर अपथ्य हो सकता है। इसलिये अब अपना वक्तव्य समाप्त करता हू।

अहिंसा का पुनरुद्धार

[वक्ता—श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त, सोदपुर (बंगाल)]

हमारे सामने प्रश्न यह है कि अहिंसा का पुनरुद्धार कैसे हो ? यह प्रश्न खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर रहा है कि पहले अहिंसा समाज में थी, किन्तु अभी नहीं है और इसीलिये अब उसका पुनरुद्धार करना है। बच्चा जैसे सहज भाव से माता के स्तन से दूध पिया करता है, दूध पीने के लिये उसे कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती, उसी तरह बिना किसी प्रयास के सहज भाव से समाज पहले अहिंसा का पालन करता था। उस समय समाज स्वभाव से ही अहिंसा

का अमृत-पान करता था। किन्तु आज समाज मे इतने साधु, भिक्षु व संन्यासियों के मौजूद रहते हुए भी वह अहिंसा नहीं है, इसीलिये अहिंसा के पुनरुद्धार की बात उठती है।

अहिंसा की आबहवा में ही भारतवर्ष की समाज-रचना हुई थी। यहां के सारे आचार व आचरण मे, सारे धर्मानुष्ठान मे जिस पवित्र भाव के आधार पर यहां की सभ्यता गठित हुई थी, वह था—इसका क्रमश विस्तृत, व्यापक आत्मबोध अर्थात् सब को अपना आत्मीय समझना। 'लोका समस्ताः सुखिनो भवन्तु'—सभी सुखी हों, यही भावना भारतीय सभ्यता का आधार थी।

प्रत्येक देश मे परिवार का बन्धन हमेशा से रहा है। किन्तु प्रायः सभी देशों मे लोगों की हमेशा ऐसी ही चेष्टा रही है कि एक परिवार मे ज्यादा लोग न हों। लड़का बड़ा होने पर अपनी स्त्री को लेकर अलग हो जाता है। किन्तु इस देश मे पुत्र-पौत्रों के साथ मिल कर एक संयुक्त व सम्मिलित परिवार मे एक साथ रहने मे ही लोग सन्तोष अनुभव करते थे। ऐसे सामूहिक परिवार को कायम रखने मे ही उन्हें आनन्द आता था। तीन तीन पीढियों तक सभी एक साथ एक परिवार मे रह कर अपने उपार्जन को आपस मे बराबर बराबर बांट कर बड़े सुख से लोग जिन्दगी बसर किया करते थे। यह समभाव कैसे कायम रहता था?

परिवार में कोई ज्यादा उपार्जन करता है और कोई कम, और
कोई तो कुछ भी उपार्जन नहीं कर सकता, किन्तु तो भी
परिवार का हरएक आदमी एक समान सुखी रहता है।
इसका कारण क्या है? इसका कारण सिर्फ महान् त्याग
भाव व व्यापक कौटुम्बिक या पारिवारिक सहानुभूति ही है।
इसी के माने हैं—पारिवारिक जीवन मे अहिंसा का प्रयोग।
हम देख रहे हैं कि आजकल संयुक्त परिवार की संख्या
घटती चली जा रही है। और जहाँ है भी, वहाँ परिवार
मे जो सुख-शान्ति होनी चाहिये, वह कहाँ? आज की हालत
पर विचार करते ही मन में यह पश्न उठता है कि हमारी ऐसी
दशा क्यों हुई? आज से ५०—६० वर्ष पहले भी सम्मिलित
परिवार मे जितने लोग रहते थे और उनके बीच जितनी
सुख-शान्ति रहती थी, वह आज क्यों नहीं है? इसका
कारण है कौटुम्बिक व पारिवारिक जीवन में सहनशीलता
व सहानुभूति का अभाव या दूसरे शब्दों मे व्यावहारिक
अहिंसा की कमी।

सम्मिलित परिवार को थोडा और विस्तृत करते ही ग्राम-
संगठन की बात आप से आप आजाती है। संयुक्त परिवार
का एक एक छोटा परिवार उस बड़े परिवार के दु:ख के
बोझ को आपस मे समान भाव से बाँटने के लिये प्रस्तुत
रहता था और एक साथ मिल कर रहने मे जो सन्तोष व

आनन्द है, उसका उपभोग करते हुए जीवन-यापन करने का निश्चय करता था। इस तरह वे प्रेम व आत्मीयता के वन्धन मे वॅधे रहते थे। उसी तरह प्रत्येक संयुक्त परिवार अपने पडोसी परिवारो के साथ स्वाभाविक प्रेमपाश मे वँधा रहता था। सव परस्पर प्रेम या अहिंसा के कोमल व सुखद वन्धन मे वॅधे रहते थे। इस तरह ग्राम्य-जीवन मे व्यावहारिक अहिंसा का स्वाभाविक प्रयोग आप से आप चलता था। यही उस समय के ग्राम्य-जीवन की कल्पना थी। उस समय का ग्राम एक वडा परिवार ही होता था। ग्राम की सारी जरूरतें जैसे अन्न, वस्त्र और दूसरी दूसरी चीजो की आवश्यकताएँ सभी ग्राम के अंदर ही पूरी हो जाती थीं या ज्यादे से ज्यादा आसपास के ग्रामों की मदद से पूरी हो जाती थीं। ग्राम की सामाजिक व्यवस्था ग्राम के ही हाथो में रहती थी। स्वास्थ्य, शिल्प, वाहन. सवारी, पूजा, पुरोहित, पठन, पाठन, सव का इन्तजाम ग्राम के अधीन था। ग्राम की पंचायत ग्राम का शासन व सेवा करती थी। स्टेट के अन्दर ग्राम एक छोटा सा स्वावलम्वी स्टेट ही होता था। ग्रामवासी मिल कर ग्राम का शासन करते थे और देश का शासन राजा करते थे। राजा के परिवर्तन होने पर भी ग्राम-स्टेट मे कोई परिवर्तन नहीं होता था। एक राजा दूसरे राजा पर विजय प्राप्त करते थे, उनके माल खजाने पर कब्जा कर लेते थे किन्तु

ग्राम-स्टेट बिलकुल स्वतंत्र रहता था। राजा की विजय या पराजय उसे स्पर्श नहीं कर पाती थी। अहिंसा वहाँ इस कदर स्वभाव-सिद्ध थी की ग्राम की सुख-शान्ति में कोई भी विघ्न पैदा नहीं होने पाता था। राजा कर लेते थे किन्तु अपने लिये नहीं। वे विप्लव, डकैती, व बाहरी दुश्मनों से प्रजा की रक्षा करते थे। ग्राम के न्याय का निरूपण ग्राम-वासियों के जरिए ही होता था। उस न्याय के फैसले मे दंड नहीं होता था, सिर्फ मुजरिम के दिल का परिवर्त्तन किया जाता था। मनुस्मृति मे दो प्रकार के दंड का जिक्र है—(१) प्रायश्चित्त दंड (२) शारीरिक दंड। किन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा जहाँ अपराधी का संशोधन नहीं हो सकता था, वहीं उसे राजा के न्यायालय में जाना पड़ता था और उस विचा-रालय के फैसले के मुताबिक़ दंड भी कठोर होता था। अतएव यह मान लिया जा सकता है कि ग्राम के अपराधी का विचार ज्यादातर ग्रामवासी के द्वारा ही सम्पन्न होता था।

श्रमजीवी लोग बड़े सुख-चैन से जरूरत की चीजें पैदा कर के या भिन्न भिन्न हुनर व शिल्प के जरिए समाज की सेवा करते थे और इसी से उन्हे जीविका मिलती थी। उन्हे जीविका की कोई चिन्ता न रहती थी। वे बड़े सन्तोष से जीवन-यापन करते थे। शिक्षक का काम लिखाना-पढ़ाना था और बदले मे उसे जीवन-यात्रा की सारी जरूरतें आप से

आप प्राप्त हो जाती थीं। इस सहज जीवन-यात्रा मे प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता का ख्याल विलकुल नहीं रहता था; सब कामों, सभी हुनरों, सारे वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योगों के अन्दर परस्पर मेल व रक्षा का भाव ओतप्रोत था। अहिंसा व प्रेम समाज के रग रग मे फैले हुए थे।

ऐसे अनुपम सम्मिलन मे भारतवासी को स्वतंत्र विचार व स्वाधीन कार्य्य करने का अवकाश मिलता था। स्टेट जैसी कोई वाह्य शक्ति लोगों के जीवन पर कोई विस्तृत प्रभाव नहीं डाल सकती थी। ग्राम-स्वावलम्बन व व्यक्ति-स्वावलम्बन ये ही सभ्यता के प्राण है। इस सभ्यता के अन्दर शिल्प व वाणिज्य-जीवन मे क्लेश मात्र भी प्रतियोगिता नहीं रहती। यही है अहिंसा भाव की स्वाभाविक साधना। इसी से अहिंसा की पुष्टि होती है। शिल्पी या कारीगर आपस में एक दूसरे का नुकसान या नाश नहीं करते, वरंच शिल्प-संघ द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते है। पहले इसी प्रेममय भाव के द्वारा लोगो के जीवन व कर्म नियंत्रित होते थे।

इस से साफ जाहिर है कि ऐसा पार्श्ववर्त्ती वातावरण, ऐसे सुख-शान्तिमय सम्मिलित परिवार, ऐसे दृढ़ स्वावलम्वी ग्राम व स्टेट और इस तरह के संघवद्ध शिल्पी व कारीगरों के द्वारा नियंत्रित सामाजिक जीवन—ये सब केवल मौलिक व

स्वाभाविक अहिंसा भाव के प्रसाद व प्रभाव से ही पैदा होते हैं। विच्छिन्न होने पर प्रतिद्वन्द्वी कभी बच नहीं सकते। परस्पर विरोध मे कभी उन्नति हो नहीं सकती। एकता, स्वनियंत्रण और संघ-बुद्धि से अहिंसा की रक्षा व पुष्टि होती है। ऐसा समाज क्रमशः अधिकाधिक अहिंसा की ओर अग्रसर होता है।

इसी तरह के संगठित समाज मे बुद्ध, महावीर इत्यादि युगावतारों के जीवन व कर्म ने साधारण जनता के जीवन मे अहिंसा के रास्ते पर नवीन प्रकाश का विस्तार किया था। उस समय बौद्ध भिक्षुगण और जैनाचार्य्य गण ने समाज को अहिंसा की बुनियाद पर कायम रखने मे बहुत बडी मदद पहुंचायी थी। वह एक जमाना था, जब इस तरह का संगठित समाज धर्मावलम्बी हो कर बडी शान्ति व चैन से जीवन-यापन कर रहा था। इस शिक्षा की बदौलत भारतवर्ष ने कभी दूसरे देश पर आक्रमण नहीं किया। वह धर्म के द्वारा विश्व-विजय करने को महाराज अशोक के समय मे निकला था। किन्तु तोप, कमान, हाथी-घोडे व पैदल आदि चतुरंग सेना ले कर कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया। यहाँ से संन्यासी, भिक्षु व ज्ञानी आचार्यगण सिर्फ भारत की शिक्षा, संस्कृति व मुक्ति का सन्देश ले कर बाहर गये थे।

किन्तु वह दिन बराबर कायम नहीं रहा। वह भी एक

समय आया, जब कि पतन आरम्भ हो गया। बाहरी संघर्ष से भारत की कोई विशेष क्षति नहीं हुई। बाहरी संघ यहाँ आये। आक्रमण किया। लूट मचाई। यहाँ राज करने लगे। किन्तु आखिर मे भारतीय शिक्षा व साधना के सामने उन्हें हार माननी पडी और स्वयं भारतीय बन जाना पडा। किन्तु इस तरह के बाहरी विप्लव ने ग्राम की प्राण-शक्ति पर जो चोट पहुंचायी थी, वह भी देखने में आती है। त्याग व स्वावलम्बन-शक्ति मे जो श्रद्धा बराबर से ग्राम के अन्दर कायम थी, वह क्षीण होने लगी।

अंग्रेजों के भारत मे प्रवेश करने के समय हमारी अवनति शुरू हो चुकी थी। ग्राम अपने को पहले की नाई स्वावलम्बी व आत्मनिष्ठ रखने मे असमर्थ हो रहे थे। अंग्रेजों के यहाँ प्रवेश करने के समय भारतीय अहिंसा की महान् परिकल्पना-शक्ति क्षीण हो रही थी। अंग्रेजो को लोग देवता मानने लगे। और पडोसियों के प्रति सहानुभूति के अभाव मे संतोष की जगह असंतोष, धर्म की जगह अधर्म, संघबद्ध व्यापार-वाणिज्य की जगह परस्पर प्रतियोगिता दिखाई देने लगी। समाज के लोग ही समाज के दुश्मन बन बैठे और विदेशी व्यापारियो की लूट में मदद करने लगे। उसी समय से भारतीय समाज के अन्दर अहिंसा का प्रभाव क्रमश. अधिकाधिक क्षीण होता आ रहा है।

किसी भी कारण से हो, हम देख रहे हैं कि आज हम हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी समान रूप से सम्बलहीन हो बैठे हैं। धर्म-भाव अब फिर समाज को नियंत्रित नहीं कर पाता। धर्म की जगह आज सिर्फ अर्थ का सम्मान हो रहा है और अहिंसा का प्राण-प्रवाह मद व क्षीण हो गया है। ऐसी ही हालत मे अहिंसा के पुनरुत्थान का प्रश्न उठ सकता है और उठना स्वाभाविक भी है। अहिंसा की विश्वविजयी वार्त्ता, राजनीतिक क्षेत्र में उसके प्रयोग व सफलता की बात आज गाधीजी अपने जीवन व आचरण के जरिये हमे समझा रहे हैं। वे आज कह रहे हैं कि जीवन को अहिसामय बनाओ, तो सारी विपदायें आप से आप दूर हो जायेंगी। इससे न केवल विदेशी शोषणकारी शासन व पराधीनता से हमारा उद्धार होगा बल्कि देश-रक्षा के लिये युद्ध की संहार-लीला की भी कोई जरुरत न रहेगी। यह पहले जमाने से भी आगे बढ़ जाने की बात है। हमे फिर से अहिसा का नवीन मंत्र मिला है। बुद्ध, महावीर, चैतन्य, रामकृष्ण व विवेकानन्द ने जिस समाज की सेवा की थी, उसके अन्दर फिर से नवीन जागरण दिखाई दे रहा है। सिर्फ सामाजिक क्षेत्र मे नहीं, राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा के प्रयोग के द्वारा देश को स्वाधीन बनाने और प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करने की दीक्षा गाधीजी हमे दे चुके हैं। अब हमारा कर्त्तव्य है कि

हम उसे कार्य मे परिणत करें। उसे कार्य मे परिणत करने का निश्चित रास्ता भी उन्होंने हमे दिखला दिया है। वे हमे पारिवारिक, सामाजिक व सामूहिक क्षेत्र में अहिंसा वरतने को कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि चर्खा चला कर गरीब समाज के लिये अपने अन्दर आत्मीयता व आत्मबोध जगाओ। खादी व ग्रामोद्योग की बनी हुई चीजों का इस्तेमाल कर शोषित समाज के साथ सहानुभूति अनुभव करो। जितनी चीजें हम इस्तेमाल करते हैं, उनमे सर्व प्रथम हमे यह विचार करना चाहिये कि ये हाथ की बनी हैं या मशीन की। यदि हमे बचना है तो मशीन वाली यान्त्रिक सभ्यता से अपनी, अपने परिवार व समाज तथा देश की रक्षा करना निहायत जरूरी है। यान्त्रिक सभ्यता दूसरों का शोषण करती है। वह दूसरों को विना हानि पहुंचाये, और उनका अहार विना छीने टिक नहीं सकती। वह हिंसा पर ही कायम रह सकती है। अहिसा व्यापक रूप से तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जब हम ग्रामो को सुप्रतिष्ठित करें अर्थात् केवल वहीं की बनी हुई चीजें इस्तेमाल करें। इसके विना अहिंसा का व्यावहारिक व वास्तविक पालन होना असभव है। यान्त्रिक सभ्यता का ताडव नृत्य आज हमारे सामने हो रहा है। यान्त्रिक सभ्यता के पुरोहितों और आचार्यो के बीच यह संहार-लीला चल रही है। इसी संहार की तैयारी के लिये

जर्मनी सन् १९३२ से सन् १९३७ ई० तक रोज ३॥ साढ़े तीन करोड़ रुपये युद्ध-सरंजाम की तैयारी मे खर्च करता रहा जिसका लिखित प्रमाण हमारे सामने मौजूद है। सन् १९३७ ई० के बाद से प्रमाण की कोई जरूरत नहीं। वह स्वत. सिद्ध है और उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसी तरह इंगलैण्ड आज दैनिक १० करोड रुपया इस संहार के दावानल मे आहुति देकर युद्ध कर रहा है। यह पैशाचिक हिंसापूर्ण यांत्रिक सभ्यता की परिणति है। इसी को हमारे यहाँ मत्स्य नीति कहते हैं - बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं, बड़े हिंस्र पशु छोटे पशुओं को मार कर खा जाते हैं। यह नीति मनुष्य के लिये नहीं है। हमे इस नीति से और हिंसा के ऊपर कायम इस आसुरिक यात्रिक सभ्यता से बचना है। तभी हमारे परिवार, समाज व देश की रक्षा होगी। आप गांधीजी की बात सुनें, उनका सदेश बराबर 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन बन्धु' व 'सर्वोदय' मे निकला करता है। उसे आप ध्यान से पढ़ें और पढ़ कर आचरण मे लायें। यदि हम गांधीजी के उपदेश के अनुसार इस अहिसा-पथ पर चलने की चेष्टा करे तो इससे न केवल इस संजीवनी अहिंसा का पुनरुद्धार होगा बल्कि हम और भी अग्रसर हो कर स्वयं नूतन जीवन का अनुभव करते हुए सारे विश्व को उसका अमृत-रस पान कर सकेंगे। जगद्गुरु भारत-वर्ष फिर से अपना स्वाभाविक स्थान ग्रहण करेगा। और सारे संसार को अहिंसा का मंत्र देकर उसे संहार होने से बचा लेगा।

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली]

आज मैं कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग मे होता है। धर्म में त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नहीं होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की उलटी रीति है। ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है। गर्म-तेज बात रास्ते मे इन्द्रिय-विषयों को चहका कर उस चक्कर मे रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी होती है। भोग के स्वाद

मे यही तो है—आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्युषण के दिन जोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृत्ति को मैं मथ डालना नहीं चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मैं कैसा निर्बल हूँ। कोई आग सी लहक आप मे झुलस उठे, ऐसा काम मैं नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमे दूसरा कोई नहीं जलता है; हमारे विकार ही जलते हैं। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे मे पढ़ रहा था। दाद को जितना खुजाओ, उतना मज़ा आता है। असल मे उसके छोटे छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मजे का मतलब उन कीडों का मजा है। अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते हैं। आपस के विवाद और वितण्डा से जो मजा अक्सर आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमें हम अपना खून पीते और मजा मानते है

आज के परचे मे आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मैं हूँ। मैंने ही वह विषय दिया। पर सुनने मे वह क्लिष्ट हो, आप देखेगे कि हमारे और

आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुंच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मैं विद्वान नहीं हूँ। पर आज तो मैं उसे सद्भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा मे और महावीर की अहिंसा मे और बुद्ध की अहिंसा मे और गाधी की अहिंसा मे क्या तारतम्य और क्या उनमे सूक्ष्म भेद है? यह विषय अपनी अ-विद्वत्ता के कारण मेरी पात्रता से बाहर है, यह मेरा सौभाग्य नहीं तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म चर्चा मे गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससें मैं कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझे नहीं मिला है। अपने से दूर जा कर मैं कुछ नहीं पकड पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्व हो तो उसकी उधेड़-बुन मे मैं किस आधार पर पड़ जाऊँ?

विषय के दो हिस्से है। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमे समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगडना नहीं चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय। हम मे से हरएक अपने साढ़े-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नहीं। हर काम और हर बात मे अपने सीमित होने का हमे पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन

हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओं के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म हैं।

यह बात साफ है। पर धुंधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ है। मन भाग कर दुनियां मे दौड़ता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या क्या अपनी मुट्ठी मे कर लेना चाहती हैं। अपने ही अन्दर के इन तत्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते। हमारी जो हद हैं, उन पर पहुंच कर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते हैं।

जैसे सपने की ही बात लीजिए। आप रोग मे खटिया से लगे पड़े हैं। पर सपने मे ऐसे उड़ते है, ऐसे उड़ते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नहीं। बादल पर चढ़ जाते है, सारी दुनिया को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते हैं। दिन के काम मे आप बन्धे हुए हैं। पर रात के सपने में एकदम खुल जाते हैं।

मैं उन आदमियों मे नहीं हूं जो सपने को सपना कह कर उड़ा दे सकते हैं। मैं तो वहम को भी मानता हूं। इसी

तरह सपना दिन की धूप मे सपना हो, पर रात मे आँख मिचने पर वही सच होता है। हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है। और मैं यह भी आपको कहना चाहता हूं कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते। अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नहीं तो रोग ही फिर क्यों होता ? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है। सपने के कारण हममे सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है।

पर एक बार की वात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पडी। ऐसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ। पर देखा तो वह सो रही थी। थोडी देर मे फिर चीख हुई। अब के वह उठ पडी थी। माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी। मैंने पूछा, "क्या है ?" वोली, "कुछ नहीं।" यह 'कुछ नहीं' उसने झूठ नहीं कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है। और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नहीं' है। इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है, जिस का दूसरा नाम है स्वप्न, वह एकदम असत्य नहीं है। उसमें से चीख निकल सकी, उससे वदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह वात मैंने आप को यह वताने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम मे जव वेहद झगड़ा

पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित हैं, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) मे से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियों की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उन मे विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हे हठात् इन्कार करके हम उन्हे अपनी जकड़ बनाते हैं। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढाना चाहते हैं, यानी अपना विकास करना चाहते है, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्द्धा में नहीं।

इसको साफ़ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिए। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़ने मे बहुत तेज है—एफ० ए० पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि उसके खयाल बहुत उठ गये हैं। उसका घर गाँव मे है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान हैं। लेकिन पढ-

पढ़ कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतंत्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता मे पड़े हुए हैं।

अब कल्पना मे लाइये कि इस बालक का अपनी परिस्थिति के साथ कैसे मेल बैठेगा? क्या वह जो बालक सोचता है, ग़लत है? ग़लत तो नहीं है, पर अगर उसके सही होने के जोश मे घर मे पाव रखते ही वह बालक मा-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है, कहता है कि तुम वहम मे पड़े हो और जब तक तुम अपनी संकीर्णता छोडते नहीं हो, मैं इस घर मे खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है तो आप क्या कहेंगे? उसे विद्वान् कहेंगे या मूर्ख कहेंगे? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिए, मैं जैन कुल मे उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य ही असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को ग़लत ठहराये, मेरी आत्मा नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या

अपमान या अनादर किसी का भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूं ? क्या ऊंची गर्दन कर के यह कहूँ कि मैं जैन नहीं हूं, मानव-धर्मी हूं; और तुम जैन धर्मी हो तो भूल मे हो ? मैं मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है ? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी, अथवा कि कोई धर्मावलम्बी हो कर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है ? इसलिए जिसको परम्परा से जैन धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा जिसकी मुझ को कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

छुटपन मे कहानी पढ़ी थी कि चन्दा देख कर रामजी मचल गये। रोवें सो रोवें। मान कर ही न रहे। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देख कर हाथ लपकाते थे, उनके पैर अपनी जगह छोड कर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी जमीन छोड कर चंदा राजा की तरफ उलांच भरने जितनी कहीं बदन मे शक्ति होती और मा पास न होतीं, तो रामजी गिरगिरा कर अपना सिर ही फोड लेते। पर ग़नीमत कि उनमे इतनी ताकत न थी और मा पास थीं। आखिर मां ने क्या किया कि थाली मे पानी भर कर उस चन्दा राजा

को आसमान से नीचे थाली के बीच में उतार लिया। रामजी उससे मगन हो गए, खेले, और सो गये।

हम सब पर माताएँ तो रह नहीं गयी हैं। मेरी मां तो मुझे छोड ही गयी हैं। उनके अभाव मे, यह समझ कर कि हम बड़े हैं, क्या चांद पर हमें मचलना चाहिए? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए? आसमान के चांद को या तो धीर-भाव से देखने की हम मे शक्ति हो या अपने भीतर अक्स मे ले कर उसे हम बिठा सकें। और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखडने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर मे उड़ कर चांद तो हम पायेंगे नहीं, जहां हैं वहां से भी गिर रहेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। कदम-क़दम पर स्थिति-भंग का खतरा हमारे लिए है। मैं छोटा बच्चा होऊं, पर इस दुनियां मे कुछ हैं जो अक्षर पढ कर साक्षर बने हैं। उन मे उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड दौडते और ऊँची फांद लगाते हैं। वे यह तक क्यों मानें कि वे बच्चे हैं? उन्हें अपने खेल मे आनन्द है। गिरते है, तो उन्हें हक है कि उस मे से वे सबक न लें वल्कि खेल का और मजा लें। वे उस आनन्द की अतिशयता को झेल नहीं सकते, इससे

हम-तुम को भी वह आनन्द देना चाहते हैं। अब हम क्या करें ? हमारे पास माँ है, या कोई हमें माँ-तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म-संकट में हम वहीं पहुँच जांयगे। पर यदि हम कुछ बडे हो गये है और माँ हम से छिन गयी है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमें नहीं है, तो स्वधर्म को हम अपने पकड़ लें और उस की गोद को न छोडें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानों समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक है या युवा हैं, या अपने परिवार मे बड़े हैं या नगर-मान्य हैं, या समाज रक्षण की कुछ जिम्मेदारियाँ हम पर हैं, अथवा राष्ट्रनेता हैं या कि लोकनायक हैं—इन सब हालतों में हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग अलग हालत में सीमाएँ भी अलग हैं। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियों मे उन्हीं सीमित स्वधर्मो के पालन मे हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक जिम्मेदारी निबाहने के योग्य नहीं बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बडे क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्व-

जनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म-संकटता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनों उससे क्षुब्ध होते हैं।

स्वधर्म शब्द मे ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात् दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए परधर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेय', परधर्मो भयावह."। अर्थात्, स्वधर्म न छोडना और परधर्म न ओढ़ना। परधर्म पर का धर्म है, मेरा वह नहीं है। पर परधर्म मान कर भी मुझे उसके प्रति कैसे व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारे विषय का दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी मे नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नहीं है। आदर्श मे खंड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य मे हम-तुम सब समाये हैं। सब धर्म उसमे अभिन्न हैं। सब जीव उस मे एक हैं। असल मे तो सभी तरह का द्वैत उस मे अद्वैत है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसी को कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ-भी। हम अपनी पृथकता में जीवात्मा हैं, अपनी एकता मे परमात्मा।

उस एक की झाँकियाँ अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह अपने ही रूप मे उसे देखता है। उन मे कोई एक झाँकी ग़लत नहीं है। वे एक दूसरे की पूरक हैं। वे एक दूसरे से भिन्न हैं, पर अपनी अपनी जगह एक सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे, दूसरा धुधला। वह तो चित्र-दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन मे एक रूप मे प्रतिफलित करे, दूसरा दूसरे ही रूप मे घटित करे—यह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनों स्थानों पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौक़ूफ नहीं है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोपण नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोपण एक तरह से परधर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म मे निधन अच्छा, परधर्म का स्वीकार तो कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते है तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते हैं। यह तो हिंसा है।

मैं इसी ढंग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रह कर मुझे मौत आती हो, तो हर्ष से मुझे उसे भेंटना चाहिए। अब अहिंसा की पहिचान यह है कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त भी वैसा ही मैं त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात मुसलमान को हिन्दू बनाने नहीं बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने देने मे मदद देने के लिए, अपना सब कुछ होमने की लगन मुझ मे जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूँ, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मान कर गो-कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम-भाव से उस भाई का हृदय जीतूँ या मुझ मे सचमुच उतनी करुणा हो तो गाय की रक्षा के लिए अपनी गर्दन मुसलमान भाई को दे दूँ। पर, थोडी देर के लिए समझिए कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित हो कर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिल्कुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो-भक्त की राह मे बाधा बन जाऊ और अपने जीते-जी उस मुसलमान भाई की कुरबानी मे चलान विघ्न न पडने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न

होगा जब स्वधर्म पर आरूढ़ रहने की हम में निष्ठा है। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमे स्वधर्म-निष्ठा नहीं है, दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमें नहीं होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड कर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परमधर्म मे अब भी है ही। फिर जो उन मे स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यों? मन का ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग मे दो शरीर अपनी पृथकता सहन न कर सकने के कारण मिलते है। इसी से भोग का फल ऐक्य नहीं, अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोड़े दिनों बाद उन का प्रेम उड़ जाता है। मैंने तो सौ फी सदी यह बात देखी है। क्यों ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए वह प्रेम मोह बना, मोह से काम आया और फिर तो देखा गया कि उसकी पूँछ मे घृणा आ गयी है, प्रेम उड गया है।

आज मैं इस बात को बहुत ज़ोर से कहना चाहता हूं। क्योंकि लोग है जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मो का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी हैं। उनका अभि-

प्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डित करना चाहती है, वह सच्ची एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक दूसरे से पवित्र रख कर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर-स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उस मे अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

वहुत लोग हैं जो वहुत ऊँचे उठ गये हैं। यानी वे नाम-धारी सव सम्प्रदायो, जातियों, धर्मों और हदवंदियों से ऊँचे उठ गये हैं। वह विश्व की एकता मे रहते हैं। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हों, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो स्वयम् नहीं है, वह सव कुछ कैसे हो सकता है ? शरीर से कोई विश्व मे कैसे रह लेगा ? रहेगा तो एक कमरे में ही। इसी तरह सव भाषाएँ कैसे वोल लेगा ? वोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या ? वल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हम को एक परमधर्म प्राप्त होता है अहिंसा। मेरा अपना धर्म

सीमित है, यह मुझे क्षण के लिये भी न भूलना चाहिए।
अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका
आरोप मैं नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाजा है कि
मैं ऐसा न करूँ। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है।
उसको उसी मे निष्ठित रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसका यह
आशय कि वाक्-शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्हीं भी और
साधनों से विशेपण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह
नहीं रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा।
किसी की श्रद्धा विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे
जानते हैं कि जो हम जानते है; वही ज्ञान की परिसीमा है ?
अगर परिसीमा नहीं है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर
आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं।
अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण
को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उस से न डिगने मे मुझे
जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है। पर
ध्यान रहे कि इस (सत्य) आग्रह की सीधी चोट मुझ से
बाहर कहीं न पड़े। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य पर
है तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ
भंग हो, वहाँ आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य मे तो सभी समाया है—

मेरी झाँकी भी और सब की झाँकी भी. मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप सम्पूर्ण सत्य को ध्यान मे लें तो आग्रह की कहाँ गुंजाइश रह जाती है ?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य मे तो सब भेद लय है। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नहीं। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उस को नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी है। इस से जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योकि जिस के प्रति हिंसा हो, उस मे भी तो ईश (सत्य)-तत्व है। इस से हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है। और अहिंसा ही ईश्वर को अर्थात् सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण हैं, इसी से हमारा स्वधर्म सीमित है। और इसी से हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परमधर्म हम पर लागू है।

मैं नहीं जानता कि अपनी बात आप के आगे मैं साफ रख सका हू। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणों के साथ खोल कर रखता। मैं मानता हूं कि अन्तिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारों के बीच सतत् विकासशील धर्म की स्थिति को भी और गति को भी कैसे निबाहा जाय—यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवन-कला है। और इसी का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष्य

वास्तविकता—इन दोनो तटों को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर है, दूसरी ओर अध्यात्म मे हमारी निष्ठा है। यों दोनो परस्पर विरोधी मालूम होते हों, किन्तु वह विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन मे। संयुक्त होता है, नष्ट नहीं होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और वाहरी उपाय नहीं है। किसी तत्वशास्त्र या तर्कशास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिंड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान मे रहे कि पिण्ड अव भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिण्ड यह पहचानेगा तो अपनी पिंडरूपता से उसका झगड़ा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े-तीन हाथ के शरीर मे रह कर भी अन्तःप्रकृति मे व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा।

अन्त मे, जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा मे उसके बारे मे हमे क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिये।

पहला—व्यक्ति रूप मे हम सीमित है। इस से स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

दूसरा—वह स्वधर्म है, इसी से हम से दूसरे के लिए वह पर-धर्म है और उस पर वह लागू नहीं है।

तीसरा—स्वधर्म-पालन से ही स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

चौथा—स्वधर्म के पालन मे मुझे मृत्यु से भी मुह मोडने का हकनहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म मे ही निष्ठित रखने मे सहकारी बनूं।

पांचवां—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म-निष्ठ और उसके पालन मे अपने प्रति निर्मम होता है, वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार, आदरशील और समभावी होता है।

छठा—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नहीं। वल्कि दूसरे मे आत्मवत् वृत्ति रख कर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतनी ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है जितनी स्वयम् अपने स्वधर्म के लिए। यह काम किसी नर्क-कौशल या शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अंत सिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है।

सातवा—आदर्श अखण्ड है। उस पर हमारी अपूर्णता की सीमा लागू नहीं है।

आठवां—जगत के नाम-रूपात्मक सव धर्म अमुक समुदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित है। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप है।

नवां—सब धर्म सच है। उन की सचाई में तरतमता नहीं है। इसलिए उन मे तुलनात्मक बुद्धि गलत है। धार्मिक की अन्तःशुद्धि की अपेक्षा उन मे सचाई पडती है।

दसवां- आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सब के लिए एक सम-सामान्य और परम धर्म है।

ग्यारहवां—असीम को पकड़ने की लालसा मे सीमाओं को लांघना या तोडना गलत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रह कर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नहीं है। और शरीर मे रह कर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनन्त दूर, तक उन्नति कर सकता है।

बारहवां—ऐक्य आत्मा मे है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायेगी। आत्मैक्य साधने के लिये शरीर को पवित्र अर्थात् असंपृक्त रखना चाहिये। यह अनुभव की बात है कि भोग से दो व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढता है और सयम से उन मे प्रेम दृढ़ होता है।

तेरहवां—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट हो कर, क्षुब्ध हो कर ऊपरी जोड़-तोड़ से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढंग के नेकनीयता से किए गये प्रयत्न विशेष फल न ला सकेंगे। रूपाकार वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आंच मे ही पहुंच कर

अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नहीं है।

चौदहवा—दूसरे के स्वधर्म के लिए अपने स्वधर्म का अल्पाश भी त्याग किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा धर्म स्थितिबद्ध नहीं, वल्कि गतिशील है। इसलिए अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता है। अपने प्रति निर्मोह, दूसरे के प्रति प्रेम अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ़ सकती है। पर अब मैं पीछे हटूगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब आप खुश हों कि मैं आप से अब अपनी जगह जाने की अनुमति लेता हू। मुझे क्षमा करें। प्रणाम।

इस मे मन पर काबू रखना पडता है, शरीर को भी तकलीफ पहुँचती है, तथापि हम उपवास आदि उत्साह के साथ करती हैं, दूसरे के रोकने पर भी हम तप करना नहीं छोड़ती हैं। व्रत सम्पूर्ण होने पर जब तक धूमधाम से उसका उद्यापन नहीं होता, तब तक हमको सन्तोप नहीं होता है। इसलिए हम उद्यापन करने के लिए पैसा भी खर्च करती हैं और कराती हैं। साधुओं की वैयावृत्त्य भक्ति करती हैं। शक्ति के अनुसार यात्रा भी करती है। ज्ञान-पंचमी के रोज ग्रन्थों की, शास्त्रो की पूजा करके ज्ञान की आराधना की इतिश्री मान लेती है। हम लोगों को बचपन से धार्मिक शिक्षा भी मिलती है। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कंठस्थ कर लेती हैं। हम मे से कोई कोई कर्म-ग्रन्थ आदि भी पढ़ लेती हैं।

इन सब बातों मे मुख्यतया हमारा धर्म समा जाता है। हमारा कुटुम्ब और समाज भी इसी को धर्म मानता है और इस धर्म की रक्षा का तथा पालन का भार अधिकतर स्त्रियो के ऊपर ही रखा हुआ है। हम भी इतना कर के अपने धार्मिक अभिमान को पुष्ट करती हैं।

पर हमे तो अभी यह सोचना है कि क्या इन धार्मिक आचरणों से स्त्रियों का जीवन सुखी है? क्या उनको इतने मे ही सन्तोष हो जाता है? यदि उनका जीवन सुखी हो, उन्हें सन्तोष मिल रहा हो, तब तो कुछ कहने की जरूरत

नहीं है। परन्तु हमें दीख रहा है कि ऐसा धर्माचरण करने पर भी उन का जीवन सुखी नहीं है, उन के जीवन मे सन्तोष नहीं है। उपवास आदि सब तरह की धार्मिक क्रियाएँ करने पर भी उन की आँखो मे आँसू कभी सूखता नहीं। उन के जीवन में आनन्द की जगह उदासी छाई हुई रहती है। किसी भी पुरानी या नयी वस्तु को ठीक ठीक जानने का और ग्रहण करने का न तो उन मे उत्साह दिखलाई देता है और न उमंग। वे अपने जीवन के छोटे-बड़े किसी सवाल को हल नहीं कर सकतीं। कोई कठिन संकट उपस्थित हो तो धर्म के बल पर उस का सामना नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं बल्कि उस समय उन्हे अनाथता और निराधारता का अनुभव होता है। वे परम्परागत आचारों का पालन करती हुई निस्तेज-सा अपना जीवन बिताती है। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ करते रहने पर भी आपसी लड़ाई और ईर्ष्या-द्वेष दिनों-दिन बढ़ता ही जाता है। धर्म का आदर्श विशाल बनाना तो दूर रहा, हम उसे समझने की कोशिश भी नहीं करतीं। छूने मे दोष, खाने मे दोष, जाने मे दोष, मानो हम स्त्रियों के वास्ते सारा जगत ही दोषों की खान बन गया और हमारे लिए सिर्फ पारलौकिक सुख ही एक मात्र काम्य रह गया है। मुक्ति पाना ही एक मात्र आदर्श रह गया है, पर उसे पाने के लिए जो हमारा प्रयत्न है वह इतना अधूरा है कि हम उसे

प्रयत्न भी नहीं कह सकतीं। हमारा सारा आचार अज्ञान-मूलक होने से हम हमारे ध्येय से दिनों-दिन दूर होती जाती हैं। हम कठिन से कठिन तपस्या करना तो चाहती हैं किन्तु अपना परिश्रम सफल कैसे हो, इस की चिन्ता नहीं करतीं। जीवन मे आनन्द के स्थान पर उदासी छाई हुई रहती है पर धर्म और उदासी का कोई मेल नहीं है। धार्मिक जीवन तो वह है जिसमे उत्साह हो, प्रसन्नता हो, ज्ञान हो, दूसरों के प्रति आदर हो और कभी निराधारता न महसूस हो। इसी से विचार आता है कि तब वास्तविक धर्म क्या है?

अपने शास्त्रों मे दो प्रकार का धर्म कहा गया है। एक श्रुतधर्म, दूसरा चारित्र-धर्म। दूसरे नाम से कहना हो तो एक को ज्ञान और दूसरे को आचरण के नाम से कह सकते हैं। श्रुतधर्म का अर्थ सिर्फ शास्त्रों को पढ़ना ही नहीं है। इसमे विचार का, मन का, दूसरों के प्रति-व्यवहार का, और जितने भी प्रकार का ज्ञान है सब का समावेश हो जाता है।

जिन वस्तुओ को मननपूर्वक सोच—समझ कर अपने जीवन में उतारा जाता है, उनका चारित्र-धर्म मे समावेश होता है। जीवन मे पहले श्रुतधर्म—ज्ञान धर्म आता है, वाद मे चारित्र-धर्म आता है।

हम स्त्रियों ने इन दोनो धर्मों का विपरीत क्रम रखा। हमने

पहले चारित्र-धर्म को रखा और ज्ञान-धर्म को तो छोड़
ही दिया। इस के फल स्वरूप हम ने चारित्र-धर्म के पालने
में ही अपनी शक्ति खतम कर दी और जीवन मे श्रुतधर्म
आया ही नहीं और श्रुतधर्म के बिना चारित्र-धर्म की शुद्धि
और सफलता कैसे आ सकती है?

क्रियाओं का, आचारों का महत्व उनके पीछे की भाव-
नाओं पर अवलम्बित है क्योंकि किसी वस्तु का मनन
किए बिना उस को व्यावहारिक रूप देना मुश्किल है। धार्मिक
क्रियाओं के मूल में सत्य की, अहिंसा की, निडरता की,
निष्ठा की भावनाएँ रहीं और काल के अनुसार, देश की
परिस्थिति के अनुसार और जनता के विचार-सामर्थ्य के
अनुसार उन सब भावनाओं को व्यावहारिक रूप दिया गया
परन्तु धार्मिक क्रियाएँ जितनी पुरानी होती जाती हैं, उन के
पीछे का निश्चय और विचार-बल उतना ही दूर होता जाता
है और उन का व्यावहारिक रूप यानी बाह्याडम्बर उतना
ही बढता जाता है। आज हमारे जीवन मे मनन का, श्रुत-
धर्म का कोई स्थान नहीं है और इसीलिए चारित्र-धर्म
का क्रिया-कलाप अधूरा ही रह गया।

मनन की शक्ति से, विचार के बल से चित्त निडर वनता
है परन्तु हम मे श्रुतधर्म न रहने के कारण हम वोलने में
डरती हैं, कहीं अकेले जाने मे डरती हैं, किसी नयी वात

को करने में हिचकिचाती है, हम मे कितनी शक्ति है इसका विचार नही करतीं। दूसरो की सोची हुई बातों को हम सोचती है, दूसरे जो कराते हैं वही करती है। खुद सोच-समझ कर नयी और काम की बातें नहीं अपनातीं। इससे जब कभी भी हम गलत रास्ते पर जा सकती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जब तक हम स्त्रिया अपने बल पर खडी न होगी, तब तक जीवन का कोई भी प्रश्न हल नहीं हो सकता है।

हजारों कर्त्तव्य रहने पर भी हम स्त्रियो का इस समय प्रथम कर्त्तव्य है अपना श्रुतधर्म का विस्तार। जब तक ज्ञान के द्वारा, अनुभव के द्वारा हमे सच्ची समझ नहीं होगी तब तक हम बाहरी उलझन में फँसी हुई रहेगी। न कभी वह उलझन सुलझेगी और न हमे साफल्य ही मिलेगा। उसे पाने के लिए ज्ञान की, विचार की ही जरूरत है। महान पुरुषों का कहा हुआ है, इसलिए वह स्वीकार्य्य है—इतना ही मात्र न सोच कर अपने जीवन मे उसका क्या उपयोग है, यह भी हमे स्वयं सोचना चाहिए। स्वयं सोची हुई बात का अनुसरण करने ही मे विकास मे अधिक मदद पहुचती है। महान पुरुष भी कहते हैं "हम ने जो सोचा, कहा और जीवन मे उतारा, अन्धश्रद्धा से उसका अनुसरण न करो, उसे सोचो, समझो और तुम्हें ठीक जंचता हो तो उसे अपने जीवन मे उतारो। इसी मे तुम्हारा विकास है।"

श्रुतधर्म के विकास मे जितनी भी बाधाएँ है, एक एक कर के सब को दूर करना होगा। सब से प्रथम बाधा अपने मन की है। पीढियों के संस्कार से मन संकुचित और भीरू हो गया है। समाज की परिस्थिति के कारण किसी वस्तु को जानने का, समझने का सुयोग ही नहीं मिलता है। सौभाग्य से सुयोग मिल भी जाय तो इधर-उधर की व्यर्थ बातों मे हम समय बर्बाद कर देती है। न किसी बात को ध्यानपूर्वक सुनती हैं, न उस पर कुछ विचार करती है। मन की यह दुर्बलता जब तक दूर नहीं होगी, जब तक मन मे जानने का आग्रह पैदा नहीं होगा, तब तक श्रुतधर्म का आना सम्भव नहीं है।

श्रुतधर्म के विस्तार का दूसरा बाधक पर्दा है। पर्दे के कारण हमें यथारीति से शिक्षा नहीं मिलती। न हम किसी से मिल सकती है, न किसी से विचार-विनिमय कर सकती हैं। समाज के, देश के किसी भी काम मे भाग नहीं ले सकती है। न मालूम किस अशुभ मुहूर्त्त मे पर्दा प्रथा चल पड़ी थी कि आज इस विमानी परिवर्त्तन के युग में भी पर्दा नहीं उठा। इस के लिए पुरुष या नारी किस को दोष दिया जाय? हम स्त्रिया मन को दुर्बलता के कारण, नासमझी के कारण, शिक्षा के अभाव से इस पर्दा को उठा कर फेंक नहीं सकतीं। यह हमारे जीवन के विकास मे कितना बाधक है, कितना हानि-

कारक है, यह समझ नहीं पातीं। पुरुष समझदार, शिक्षित कहला कर, स्वतन्त्रता की हवा में पल कर भी इस पर्दे को उठा नहीं सकते। वे स्वतन्त्रता का, जीवन के विकास का मूल्य नहीं समझते हैं। क्या ऐसा तो नहीं है कि जिस कारण से राज्यकर्त्ता भारत को स्वाधीन करने में डरते है, ठीक उसी कारण से पुरुष पर्दा उठाने मे भी डरते हों। परन्तु इस तरह का डर फिजूल है। भारत के सिवाय भी विदेशी निभ सकते हैं और विदेशियों के सिवाय भी भारत निभ सकता है। पर नारी और पुरुष का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध को तोडने पर भी टूट नहीं सकता। फिर यह डर क्यों ?

इस पर्दे की वजह से हम किसी तरह की शिक्षा नहीं पातीं और न शिक्षा की प्रयोजनीयता ही महसूस करती हैं। घर के कामकाज के बारे में जो शिक्षा हमें मिलती है, वह भी अधूरी ही मिलती है।

एक तो बाहरी साधनों से ज्ञान बढता है, दूसरा अपने अनुभव से। हम मे इन दोनों बातों की कमी है। हमें ज्ञान बढाने के लिए कोई बाहरी साधन नहीं मिलता है। हमारा अनुभव का क्षेत्र भी घर की चारदिवारी तक ही सीमित रहता है। तब किस बल पर हमारी घर की शिक्षा हमारे लिए पूर्ण हो सकती है।

हमारी अशिक्षा के कारण हम किसी तरह का उत्तरदायित्व चाहे वह बच्चों का, कुटुम्ब का, समाज का या देश का हो, उस को लेने मे और निभाने मे हिचकिचाती है। कुटुम्ब, समाज और देश के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है। सोच-समझ कर उस कर्त्तव्य का भार अपने उपर ले लेना, यथाशक्ति उस को पूरा करना चारित्र-धर्म है और यही जीवन का सच्चा धर्म है। अपने नैतिक जीवन को उन्नत बनाना, बच्चों के तथा दूसरों के नैतिक जीवन को उन्नत बनाना, अपने प्रति जैसा आचरण अच्छा लगता हो, वैसा ही आचरण दूसरों के प्रति करना; यही चारित्र-धर्म है।

इस चारित्र-धर्म को अपने जीवन मे उतारने के लिये शिक्षा का, ज्ञान का जितना भी क्षेत्र है सब मे हमारी अबाध गति होनी चाहिये। इस के लिये समय, सुयोग, और लगन की पूरी जरूरत है।

इन श्रुत और चारित्र धर्मों के अलावा हमारा एक और धर्म है। वह है अमरता की पुजारिन बनना। हम नारियाँ अमर होने की शक्ति रख कर भी इस शक्ति का विकास नहीं करतीं। पुरुषों के परिश्रम का फल भोग कर अपने को कृतकृत्य मान लेती हैं। इस से हम अमर नहीं बन सकतीं। यदि हमे मनुष्य-जाति के एक अङ्ग के नाते जगत मे स्थान पाना है तो अपनी इस शक्ति का विकास करना होगा, इसको

सफल बनाना होगा। साधारण भूमिका से हमें ऊपर उठना ही होगा। यदि हमें अमृत की पुत्री कहलाना हो तो सिर्फ घर-बार की संकुचितता छोड़ कर अमरता की खोज करनी ही पड़ेगी। पुरुष-जाति की तरह अपने कर्त्तव्य के लिए हजारों वर्ष तक अथक परिश्रम से तपस्या चालू रखनी होगी। जब हम अमरता की पुजारिन हो कर अर्थात् कला में, साहित्य में, दर्शन में, विज्ञान में, अनुभूति में अपना असाधारण व्यक्तित्व रख कर, स्व-पराक्रम से वासनाओं पर विजय पा कर, मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर उस अमरता की, उस अविज्ञात वस्तु की खोज में जायेंगी, तभी हमारे जीवन में और धर्म में सच्चा तेज आवेगा। और यही हम नारियों का धर्म है। इसमें हम सदा ही प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकती हैं, कभी उदास, दीन और डरपोक नहीं।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म

[वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त', वर्धा]
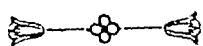
जब आत्मा शरीर को छोड़ कर इस दुनिया मे चक्कर लगाया करता है, तब उसे लोग भूत कहते हैं - उससे लोग डरते हैं -, वह हमारे काम का नहीं रहता। जब शरीर आत्मा को छोड़ कर अलग पड़ जाता है, तब उसे मुर्दा कहते हैं वह भी किसी काम का नहीं रहता। हिन्दू उसे जला देते है, मुसल-

---

नोट—कलकत्ते की पर्युषण व्याख्यानमाला में मेरे दो व्याख्यान हुए, पर कुछ कारणों से मुझे यह भ्रम हो गया कि ये दोनों व्याख्यान पुस्तकाकार न छापे जायेंगे। व्याख्यान के तीव्र प्रवाह के कारण

मान उसे गाड़ देते हैं। इस प्रकार प्राण-रहित शरीर और शरीर-रहित प्राण बिलकुल बेकाम है। यही हाल धर्म के निश्चय और व्यवहार रूपों का समझना चाहिये। व्यवहार-रहित निश्चय भूत है, निश्चय-रहित व्यवहार मुर्दा है। निश्चय और व्यवहार—जहाँ दोनों का मिलन है, समन्वय है, वही जिन्दा धर्म कहा जा सकता है, वही हमारे काम का हो सकता है।

शरीर जैसे बदलता रहता है, उसी तरह व्यवहार भी बदलता रहता है, कभी कभी तो एक शरीर को छोड कर दूसरा

मेरे व्याख्यानों के नोट भी किसी ने नहीं लिये। इसलिये जब व्याख्यानो के लिपिबद्ध रूप की मांग मेरे सामने पेश हुई, तब मै बड़े असमजस मे पड़ा। अहिंसा के व्याख्यान के नोट थे, इसलिये वह तो मै लिख सका, पर यह व्याख्यान न लिख सका। पर, श्री सिंघीजी का अनुरोध बराबर चालू रहा। अन्त में यह कहा गया कि इस विषय पर मै अपने विचार संक्षेप में लिख दूँ। सो आज चार माह बाद इस विषय पर कुछ विचार प्रगट कर रहा हूँ। इसे पाठक व्याख्यान का लिखित रूप न समझें। उसके बाद और उसके पहिले मैंने इतने व्याख्यान दिये है कि यह मै किसी भी तरह याद नहीं रख सका हूँ कि उस व्याख्यान मे मैंने किस ढग से क्या बात कही थी। हां, भाषा, शैली, क्रम तथा परिमाण का भेद होने पर भी विचार ये ही है। —द० ला० सत्यभक्त

शरीर ग्रहण करना पडता है। इसी प्रकार कभी कभी व्यवहार मे भी क्रान्ति करनी पड़ती है।

यद्यपि दुनिया मे ऐसे आदमी भी हैं जो व्यवहार और निश्चय को समतौल रखते हैं, दोनों का समन्वय करते हैं पर बाकी आदमियों मे कुछ भूत-पुजारी अर्थात् निश्चयैकान्तवादी है और कुछ मुर्दापरस्त अर्थात् व्यवहारैकान्तवादी है। दोनों ही धर्म की विडम्बना करते हैं। जैनत्व तो अनेकान्त मे है। जो निश्चय या व्यवहार मे एकान्तवादी हैं, वे जैनत्व नहीं पा सकते। बाप जैनी कहलाता था, इसलिये वे जैनी भले ही कहलावें पर सच्चे जैन नहीं हैं।

धर्म के निश्चय और व्यवहार—ऐसे दो भेद किये जाते हैं। निश्चय मूल धर्म है, व्यवहार या तो उसका फल है या उसका साधन है। निश्चय का कल्याण के साथ सीधा सम्बन्ध है, व्यवहार का परम्परा-सम्बन्ध है, निश्चय स्थायी है, व्यवहार परिवर्तनीय है। निश्चय और व्यवहार की तरफ इस तरह संकेत करने से हमें उसका कुछ कुछ भान होने लगता है। इसी विचारधारा के अनुसार हमे धर्म के प्रत्येक अंग का निश्चय और व्यवहार रूप समझना चाहिये। जैसे, विनय एक धर्म है। किसी व्यक्ति क विषय मे पूज्य बुद्धि रखने से उसके गुणों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, दूसरे लोग भी गुण का सत्फल देख कर गुणी बनने की तरफ झुकते हैं।

जिस के प्रति हम विनय करते हैं, उस का स्नेह हमे मिलता है, सहायता और सद्बोध हमे मिलता है, इसलिये हमे भी प्रसन्नता होती है। विनय का यह सत्फल एक स्थायी वस्तु है। पर विनय के बाहरी रूप नाना हैं। कहीं पैर छूना, कहीं घुटने के बल झुक कर हाथ चूमना, कहीं टोप उठाना, कहीं सिर झुकाना, कहीं हाथ जोडना, आदि। ये रूप देश, काल और अपनी परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं, बदलते रहते हैं। इस प्रकार विनय हुआ निश्चय धर्म, उसको प्रगट करने के लिये बाह्याचार हुआ व्यवहार धर्म। बाह्याचार बदलता है, पर कोई न कोई रूप रहता है। अब अगर कोई कहे व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है, हमे तो निश्चय ही चाहिये तो व्यवहार-शून्य उसका निश्चय न तो हो ही सकता है, न रह सकता है। इसी प्रकार कोई कहे कि निश्चय की कोई जरूरत नहीं है तो निष्प्राण शिष्टाचार व्यर्थ का बोझ बन कर रह जायगा। यही बात हरएक धर्म के विषय में है। यहा विनय और शिष्टाचार का उल्लेख तो मैंने एक उपमान के रूप मे किया है।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म क्या है? यह जानना हो तो पहिले यह जानना चाहिये कि धर्म का ध्येय क्या है। पंडिताई दिखाने के लिये इस विषय मे बहुत सी बातें कही जा सकती है, पर एक सीधी-सी बात यह है कि जगत् के

जीवों को सुखी बनाने के लिये और दुख से दूर करने के लिये धर्म है। इस काम मे जिस का सम्बन्ध निश्चित है, वह तो निश्चय धर्म है और जो उसका सामयिक या व्यवहारी रूप है, वह व्यवहार धर्म है।

क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग, नि:स्वार्थ वृत्ति, परोपकारशीलता, न्यायपरायणता, अवस्था-समभाव, जाति-समभाव, धर्म-समभाव आदि ऐसी वृत्तिया हैं जिन से हम भी दुःख से छूट कर सुखी हो सकते हैं और दूसरे भी। सुख के लिये इन की जरूरत सदा निश्चित है, इसलिये यह निश्चय धर्म है। परन्तु क्रोध आदि को दबाने के लिये जो जो प्रयत्न किये जाते हैं, परोपकार के लिये दान आदि जो काम किये जाते हैं, इसी प्रकार और भी अनेक निश्चय धर्मों के लिये जो जो कार्य किये जाते हैं या निश्चय धर्म प्राप्त हो जाने पर जो जो कार्य स्वाभाविक ढंग से होने लगते है, वे व्यवहार धर्म है। जहाँ निश्चय धर्म है, वहा उस का कोई न कोई व्यावहारिक रूप भी अवश्य है। इसलिये जो लोग यह कहते है कि 'व्यवहार छोडो, निश्चय को प्राप्त करो' वे ठीक नहीं कहते, उन्हे यह कहना चाहिये कि 'व्यवहार को निश्चय के अनुकूल बनाओ, व्यवहार को निश्चय वात बनाओ। व्यवहार में विवेक से इस तरह काम लो कि वह निश्चय को प्राप्त करा सके।

विवेक-हीन व्यवहार वहुत हास्यास्पद चीज है। इस से हमारी शक्ति वहुत ववोद होती है। वहुत कुछ करके भी हम कुछ नहीं कर पाते।

एक मा ने अपने वेटे से एक वार कहा—वेटा, इस तरह घर मे वैठने से काम न चलेगा, वाजार जा, कुछ मिहनत कर, पसीना वहा, तव पैसा मिलेगा।

आज्ञाकारी वेटा वाजार मे चला गया और एक जगह दंड-वैठक लगाता रहा। यहा तक कि खूव पसीना वहने लगा पर पैसा न मिला। निराश और दुखी हो कर घर आया, माँ को उलहना देने लगा कि मैं तेरे कहने से वाजार गया, पसीना वहाया पर एक भी पैसा न मिला।

निश्चय को छोड़ कर व्यवहार के पुजारी—रूढ़ियों के गुलाम धर्म को ऐसा ही उलहना देते हैं। वे विवेक-हीन हो कर वहुत कुछ करते हैं, महामुनि और महाश्रावक वन जाते हैं पर कल्याण के नाम से कुछ नहीं पाते।

आज जैनियों के भीतर दिगम्वर, श्वेताम्वर, स्थानकवासी आदि विविध संप्रदाय हैं, एक दूसरे को वे मिथ्यात्वी आदि कहते हैं, आपस मे लड़ते हैं, दलवन्दियां करते हैं—यह सव मुर्दापरस्ती अर्थात् निश्चयहीन व्यवहार का फल है। अगर निश्चय के द्वारा ये व्यवहार को प्राणवान वना ले, तो इन

सब सम्प्रदायो की सब बातें रहने पर भी ये सम्प्रदाय न रहे, इन मे साम्प्रदायिक कट्टरता न रहे।

एक निश्चय के व्यावहारिक रूप अनेक हो सकते हैं। अपनी अपनी रुचि और परिस्थिति के अनुसार उन मे से एक का या बहुत का उपयोग किया जा सकता है। देखना यह चाहिये कि वे व्यावहारिक रूप को निश्चय की तरफ ले जाते हैं या नही, यदि नहीं ले जाते हैं, तो सब झूठे हैं और ले जाते हैं, तो सब सच्चे हैं। यह अनेकान्त दृष्टि अगर हमे मिले तो धर्म के नाम पर हमारे चिथड़े-चिथड़े न बनें। हमारे अनेक रूप एक दूसरे के पूरक बनें, छेदक और भेदक न बने।

जो निश्चय को पा लेते हैं, उन्हें व्यवहार के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह आप से आप आ जाता है। प्राण अपने लिये शरीर ढूँढ़ ही लेता है पर मुश्किल यह है कि हम मे से कुछ लोग निश्चय का ढोंग करते हैं, अपनी अकर्मण्यता और स्वार्थवृत्ति छिपाने के लिये आवश्यक व्यवहार से भागते हैं और आलस्य की पूजा करते हैं। और समझते हैं कि हम ने निश्चय पा लिया।

निश्चय के नाम पर दम्भ करने वाले लोगों की इस देश मे कमी नहीं है। करीब साठ लाख आदमी निश्चय की ओट में इस देश की छाती पर सवार है। उन के बोझ से हम कराह रहे हैं, पर मूढ़तावश कुछ कह नहीं सकते क्योंकि ये

अपने को साधु कहते हैं और साधु इसलिये हैं कि ये बे-जिम्मेवार है, मुफ्तखोर भी हैं।

साधु तो वे हैं जो जगत से कम से कम लेते हैं और अधिक से अधिक देते है, शरीर-पोषण के लिये जो कुछ लेते है, उसकी कीमत चुकाते हैं या कभी की चुका चुके है। साधु की परिभाषा मैंने यही बनाई है। इस परिभाषा के अनुसार भी साधु हैं और सभी सम्प्रदायों मे हैं, पर उन्हें तो साठ लाख से अलग ही समझना चाहिये। उनको साधु समझने वाले, उनकी साधुता को देखने वाले लोग इनेगिने ही हैं। खैर, कहने का मतलब यह है कि अकर्मण्यता और बे-जिम्मेवारीपन निश्चय धर्म नहीं है।

एक व्यवहार को छोड़ कर दूसरा व्यवहार पकडना ठीक हो सकता है, पर व्यवहार की सब सुविधाएँ पाते हुए भी व्यावहारिक जिम्मेवारी से भागते रहना और फिर निश्चय की दुहाई देना पूरी वञ्चना है। ऐसे लोग निश्चय और व्यवहार को समझे नहीं है।

बहुत से लोगो ने भ्रमवश या स्वार्थवश निश्चय और व्यवहार की परिभाषा मे भी ऐसी गडबड़ी कर रक्खी है कि जिस से उन्हें अपनी अकर्मण्यता छिपाने मे पूरी सुविधा होती है। उन्होंने निश्चय का अर्थ निवृत्ति और व्यवहार का अर्थ प्रवृत्ति कर लिया है, जब कि निवृत्ति—प्रवृत्ति से निश्चय—

व्यवहार का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। निश्चय मे भी निवृत्ति और प्रवृत्ति है, व्यवहार मे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति है। मिथ्यात्व से आप निवृत्त हुए कि सम्यक्त्व में प्रवृत्त हुए, मिथ्यात्व का आचार गया कि दर्शनाचार आया। धर्म बिलकुल निषेधात्मक नहीं है, उसका विधि रूप भी है। चारित्र चितृशक्ति का एक रूप है, केवल निषेधात्मक ही चारित्र होता, कषाय-त्याग या दुराचार का त्याग ही यदि चारित्र होता, विश्व-प्रेम सदाचार आदि उसका विधि रूप या प्रवृत्ति रूप कुछ न होता तो इस पंडाल मे लगे हुए खंभे सब से बड़े चारित्रवान् होते। निवृत्त्येकान्त अकर्मण्यता है, जडता है, इस तरह वह हैवानियत है। इसी प्रकार प्रवृत्त्येकान्त निरालिता है, पागलपन है, इसलिये वह शैतानियत है।

जिन लोगों ने अपने जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास किया है, जो धर्म के मर्मज्ञ, पूर्णज्ञ और इसी लिये सर्वज्ञ कहे जाते हैं, उन अरहन्तों मे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का जोड़ा तथा उनका समन्वय पाया जाता है। उन से बढ़ कर निश्चय धर्म का पाने वाला और कौन होगा, पर जीवन भर वे प्रवृत्त रहते है और वह प्रवृत्ति भी ऐसी-वैसी नहीं, किन्तु कूर्मापुत्र सरीखे केवलियों के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन्होंने केवलज्ञान होने पर भी घर में रह कर माता-पिता की सेवा की थी। इस से मालूम होता है कि निश्चय

धर्म की सीमा पर पहुंच कर भी जैन धर्म के अनुसार मनुष्य विश्व-हित के लिये, अपनी जिम्मेवारी पूरी करने के लिये, कितनी प्रवृत्ति कर सकता है। यह प्रवृत्ति सिर्फ उस समय बन्द होती है, जब मरने के लिये एक मिनट से भी कम समय रह जाता है जिसे चौदहवां गुणस्थान कहते हैं। शरीर-धर्म के अनुसार भी यह निश्चेष्टता स्वाभाविक है।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र मे, निश्चय और व्यवहार के समन्वय मे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का स्थान है। जैन धर्म का अनेकान्त इसलिये नहीं है कि हम वाद-विवाद मे इस पक्ष से उस पक्ष में और उस पक्ष से इस पक्ष मे कूद कर आत्मरक्षा किया करें; किन्तु वह इस मे है कि हम सम्यक्-चारित्र के लिये उसका उपयोग करें। सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्र के लिये है, अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, उस के बिना सम्यक्-चारित्र नहीं हो सकता और अगर वह सम्यक्-चारित्र के काम मे नहीं आता तो उसका पढना— न पढ़ना एक सा ही है।

निश्चय और व्यवहार, इन दोनों का स्वरूप हमे ठीक ठीक समझना चाहिये और उनका समन्वय करना चाहिये जिससे ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार से हमारी उन्नति हो, समाज मे सुव्यवस्था हो और व्यक्तिगत रूप से जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास हो। धर्म की उपयोगिता इसी मे है, चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार।
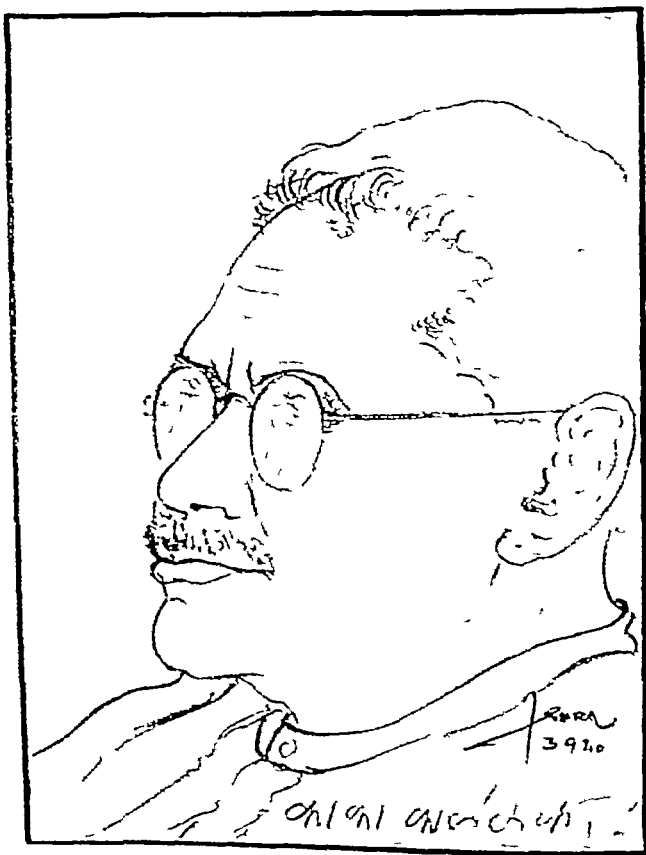
श्री काका कालेलकर

[चित्रकार—इन्द्र दुगड

अहिंसा के तीन ऋषि

[वक्ता—श्री काका कालेलकर, वर्धा]

बुद्ध भगवान असाधारण कलाधर थे। उन के जीवन मे और उन के उपदेश में उच्च कलातत्व पाया जाता है, और यही कारण है कि दुनिया भर के संस्कारी लोग बौद्ध धर्म के प्रति और बौद्ध साहित्य के प्रति इतने आकर्षित हुए हैं। बुद्ध भगवान का जीवन भी इतना कलापूर्ण है कि भिन्न-भिन्न देश के कवि और नाटककार बुद्ध की जीवन-कथा को लेकर अपनी कवित्व-शक्ति आजमाने के लिये लालायित हो उठे हैं।

दो सिरों को छोड कर मध्यम मार्ग लेने की बुद्ध भगवान की नसीहत इसी कलावृत्ति की द्योतक है। ग्रीक फिलसूफ़ ॲरिस्टोटल और बुद्ध भगवान मे यह वडा साम्य है कि दोनों सम्यक्-दृष्टि और सम्यक्-जीवन पर इतना जोर देते हैं।

बुद्ध भगवान ने अहिंसा का पुरस्कार किया, किन्तु उन्होने मासाहार का निषेध नहीं किया। उन की अहिंसा मनुष्य मनुष्य के वीच 'अवैर' भावना रखने तक ही सीमित थी। पशु-हिंसा के वारे मे वे इतना ही कहते थे कि धर्म के नाम से—वलिदान के तौर पर—पशु-हत्या न करो। साधुओ को वे कहते थे कि अपने आहार के लिये किसी को पशु न मारने दो।

बुद्ध भगवान जन्मत क्षत्रिय थे, स्वभाव से प्रचारक ब्राह्मण थे, किन्तु उन के जीवन मे और उन की जीवन-दृष्टि मे प्रधानता कलात्मकता की ही है।

(२)

महात्मा गाधीजी भी अहिंसा के पुरस्कर्ता हैं। अहिंसा का संदेश भारतवर्ष ने वैदिक काल से सुना है, और सुनाया भी है। अहिंसा गाधीजी का कोई नया आविष्कार नहीं है, तो भी गाधीजी का अहिंसा-दर्शन उनका निजी है, विलकुल

नया है और आज की दुनिया के लिये अत्यन्त व्यापक और सार्वभौम है।

अगर बुद्ध भगवान जीवन के कलाकार है तो गाधीजी जीवन के लडवैया हैं। उन के जीवन में कला का तत्व पूर्ण-तया भरा हुआ है, तो भी उस का पुरस्कार वे परिमित मात्रा मे ही इसलिये करते है कि उन की क्रांतिकारी युद्ध्यमान प्रवृत्ति मे वह बाधक न हो। गाधीजी शाति के भक्त हैं किन्तु निरी शाति के उपासक नहीं हैं। वे सब जगह अहिंसक युद्ध चाहते हैं। रचनात्मक कार्य के सब से बड़े आचार्य वे असल मे योद्धा ही हैं।

बुद्ध भगवान ने युद्ध की विफलता दुनिया को समझाई लेकिन युद्ध-संस्था का विरोध न किया। तो भी बुद्ध भगवान का रुख वैर-त्याग की ओर ही था। उन का एक वचन आज के सारे यूरोप के लिये ध्यान मे रखने लायक है। "जयं वेरं पस-वति, दुखं सेते पराजितो"—किसी पर विजय पायी तो उस मे से वैर बढ़ता ही है, क्योंकि जिस की हार हुई, उसे सुख से नींद नहीं आती है। वह बदला लेने की नीयत से सवाई तैयारी मे लग जाता है।

गाधीजी ने अहिंसा को मनुष्य-जीवन मे सार्वभौम बनाना चाहा है। मनुष्य-जाति की संस्थाएँ, उस के जीवन के आदर्श और उस की विचारधारा, सब ही मे वे क्राति

करना चाहते हैं। गाधीजी का युद्ध-विरोध उन के जीवन के साथ गहरा होता जाता है। वे जीवन-कलाधर होने के कारण परिस्थिति के साथ अपना सामंजस्य करना जानते हैं।

(३)

महावीर स्वामी बुद्ध भगवान के समकालीन होते हुए भी उन की अहिंसा उन के जमाने के लिये नहीं थी। कठिन समय आ पडने पर मनुष्य-मास को भी हजम करने वाला वह जमाना था। और ऐसे जमाने को उन्होंने उपदेश दिया कि पशुपक्षी आदि की तो बात ही और, लेकिन वनस्पति मे और जड़-सृष्टि मे भी जान है और उस के प्रति भी हमे अहिंसा-धर्म का पालन करना है!।

भगवान महावीर जीवन के तपस्वी थे। उन्होंने अहिंसा के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने की और समझाने की कोशिश की, और उस के साथ यह भी अनुभव किया कि तपस्या के विना हम न तो अहिंसा को समझ सकते है, न उसका पालन ही कर सकते है।

यह तपस्या किस ढंग की होनी चाहिये, इस के भी प्रयोग और आविष्कार होने चाहिये। अहिंसा का साक्षात्कार क्रम-मुक्ति के जैसा दिन-ब-दिन बढने वाला है। और सच्ची तपस्या का स्वरूप-निर्णय भी प्रयोग से ही सिद्ध होने वाला है।

* * *

आज-कल की दुनिया अक्सर तपस्या से घबड़ाती है। तपस्या पर वह विश्वास नहीं रखती, और जहाँ तक संभव हो, तपस्या के बिना ही चलाना चाहती है।

इधर पुरानी दुनिया तपस्या के पुराने ढंग को ही ले कर बैठी है। वह अब भी नहीं समझती कि सिर्फ कायक्लेश या शरीर-पीड़न कोई तपस्या नहीं है। तपस्या को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से समझने की जरूरत है। तपस्या का शुद्ध स्वरूप जब निश्चित होगा, तब अहिंसा का विकास पूरे वेग से होगा।

महावीर के संदेश को पूर्णतया अमल में लाने का जमाना अभी तक नहीं आया है। लेकिन वह आये बिना रहने वाला भी नहीं है क्योंकि अहिंसा के बिना—सम्पूर्ण अहिंसा के बिना—जीवन सम्पूर्णतया कृतार्थ नहीं होगा।

उस के लिये बुद्ध भगवान का अष्टांगिक मध्यम मार्ग, गांधीजी का लड़ाका सत्याग्रह और महावीर की आत्मशक्ति बढ़ाने वाली तपस्या, यह त्रिविध शक्ति या साधना सिद्ध करनी होगी।

जैन साहित्य

[वक्ता—पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी, शांतिनिकेतन (बोलपुर)]

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने साधना का जो प्रदीप जलाया था, वह आज भी प्रकाश बिखेर रहा है। सहस्राब्दियां बीत गई हैं, भारतवर्ष के भाग्याकाश में बहुत से धूमकेतु आये हैं और गये हैं, देशी और विदेशी उत्पातों की अनेक काल-रात्रियां गई हैं और आई हैं, वर्वर और अर्थ-लिप्सु जातियों के अत्याचार से कितनी ही बार वायुमंडल विकंपित हुआ है और कायर तथा स्वार्थान्ध शासकों की जड़िमा से देश की आत्मा सिकुड़ गई

पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी

है, फिर भी वह अखण्ड ज्ञान-ज्योति जलती रही है। यद्यपि दूर है, तथापि मैं उस काल को स्पष्ट देख रहा हू—जब बर्बर हूणों ने इस शान्तिप्रिय देश को भस्मस्तूप मे परिणत कर दिया था, जब नगरिया विध्वंस्त हो गई थीं, जब शस्यक्षेत्रों पर आग की लहरे नाचा करती थीं, जब शाति और अहिंसा की कल्पना भी असम्भव मालूम होती थी। उस दारुण सर्वनाश को देख कर ही मानों भारतवर्ष के अमर कवि कालिदास ने गाया था कि जिन नगरियों के राजपथ अभिसारिकाओं के नूपुर-सिजन से मुखरित हुआ करते थे, वहा सियार रो रहे थे, जिन पुष्करणियों मे नागरिकाओं की जल-क्रीड़ा के समय के मृदंग-घोप से मधुर, गंभीर ध्वनि उठा करती थी, उन्हें जंगली भैंसे अपने सींगों से गदला कर रहे थे, महलों के काठ के खंभों पर जो मूर्तिया उत्कीर्ण थीं, वे धूल और धुँए से मलिन हो गई थीं और उन पर साँप की केचले चादर की तरह लटकी हुई थीं, राजप्रासादों की दीवारे फट गई थीं और उन मे तृणाकुर निकल आये थे, उद्यान-लताये वानरों के द्वारा बुरी तरह छिन्न-भिन्न कर के मसल दी गई थीं और वे गवाक्ष जो रात मे दीपक की ज्योति से और दिन मे गृह-लक्ष्मियों की मुख-श्री से उद्भासित न हो सकने के कारण श्रीहीन हो गये थे, मकडियों के जालों से ढक दिये गये थे—

> रात्रावनाविष्क्रुत दीप भास कान्ता मुखश्री वियुता दिवापि
> तिरस्क्रियन्ते क्रमितत्तु जाले र्विच्छिन्न धूम प्रखरा गवाक्षा ।

इस प्रकार देश के वड़े वड़े नगर वीरान हो गये थे। इसकी प्रतिक्रिया भी वड़ी जवर्दस्त हुई। राष्ट्रीयता की उमंग आई। गुप्त सम्राटों का उत्थान हुआ। समाज की नई व्यवस्था हुई। विदेशी शत्रु और विदेशी रंग-ढंग सावधानी से उखाड कर फेंक दिये गये। और साथ ही साथ विदेशियो को आश्रय देने वाले धर्म के प्रति भी जवर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। जव सव कुछ हिल गया, जव सव कुछ नवीन जोश के लपेट में आ गया तव भी जो साधना की ज्योति अपने पूर्व रूप मे ही उसी तेजस्विता के साथ जलती रही, उस अखण्ड प्राणमयी ज्योति को मैं नमस्कार करता हूं।

भगवान् महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में जव मगध में घोर अकाल पडा था, उस समय अन्नाभाव के कारण लोग बुरी तरह व्याकुल हो गये थे, और आचार्य भद्रबाहु भी अपने बहुत से शिष्यों सहित कर्णाट देश मे चले गये थे। जो लोग मगध मे रह गये थे, उनके नेता आचार्य स्थूलभद्र हुए। श्वेताम्बर समप्रदाय के ग्रंथ वताते हैं कि महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उन के दो प्रधान शिष्यों, इन्द्र-भूति और सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित और संकलित करने का कार्य किया। यह सकलन वारह अंगो मे विभक्त होने के कारण 'द्वादशागी' कहलाता है। जव मगध के वारह वर्ष वाले अकाल के समय आचार्य

भद्रबाहु अपने कई सुयोग्य शिष्यों सहित बाहर चले गये तो मगध मे बच रहे शिष्यों और आचार्य स्थूलभद्र को द्वादशागी के लुप्त हो जाने का डर हुआ। इसलिये उन्होंने महावीर-निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलीपुत्र में श्रमण-संघ की सभा बुलाई। वहाँ सब के सहयोग से संप्रदाय के मान्य तत्वों का ग्यारह अंगों मे संकलन किया गया। यह संग्रह 'पाटलीपुत्र-वाचना' कहलाता है। १२ वे अङ्ग दिट्ठि-वाय के १४ भागों मे से, जिन्हें पुव्व या 'पूर्व' कहते थे, अन्तिम चार पूर्व नष्ट हो चुके थे। फिर भी जो कुछ याद था, उसे संग्रह कर लिया गया।

वर्षों बाद जब आचार्य भद्रबाहु लौटे तो उन्होने देखा कि उन के साथ इस दल का बड़ा मत-भेद है। जो लोग मगध मे रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे, परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कड़ाई के साथ पूर्ववर्ती नियमों का ही पालन करते रहे। जान पडता है, यहीं से जैन धर्म के दो प्रधान संप्रदाय श्वेताम्बर और दिगंबर हमेशा के लिये अलग हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगंबर कहलाये और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर। फल यह हुआ कि दिगंबरों ने 'पाटलीपुत्र-वाचना' के संकलनों को अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली 'अङ्ग-पूर्व' तो लुप्त हो गये हैं।

समय बीतता गया और यद्यपि जैन धर्म नाना उत्थान-प्रत्युत्थान के भीतर से गुजरता रहा, परन्तु जैन शास्त्रों की सुव्यवस्थितता बनी नहीं रही। ऐसा जान पडता है कि कुछ ही दिनो मे उन मे ऐसी अव्यवस्था आ गई कि आचार्यों को फिर से उक्त संकलन की सुव्यवस्था की सोचनी पड़ी। महा-वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी मे आर्य स्कंदिल के नेतृत्व मे फिर एक वार श्वेताम्बर आचार्यो की सभा हुई। यह सभा मथुरा मे हुई थी। इस द्वितीय उद्धार के प्रयत्न को 'माथुरी वाचना' कहते है। यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि इस दूसरी वार के प्रयत्न मे भी आगे चल कर कुछ शैथिल्य अनुभव किया जाने लगा। महावीर-निर्वाण को दसवीं शताब्दी के आसपास, आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले काठियावाड की वलभी नगरी मे तीसरी सभा बुलाई गई। इसके नेता देवर्धि गणि थे। यही उन दिनों संप्रदाय के गणधर थे। इस सभा मे फिर से ग्यारह अंगों का सक-लन हुआ। वारहवा अंग 'दृष्टिवाद' तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। आजकल के उपलब्ध अंग इस अन्तिम वार के ही प्रयत्न कहे जाते हैं।

इस प्रकार जमाने के आघात ने जब जब जैन शास्त्रों को लुप्त होने की ओर ढकेल दिया, तब तब अध्यवसायी धर्म-प्रेमी आचार्यों ने उन्हे बचा लेने की कोशिश की। बौद्ध लोगो

के धर्म-शास्त्रों के विषय में भी ऐसी सभाओं या संगीतियों की चर्चा मिलती है। पहले जो कुछ कहा गया है, उससे काफी स्पष्ट हो जाता है कि अंगों का वर्तमान आकार आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले का संगृहीत है और इसीलिये निश्चय ही महावीर स्वामी के बहुत बहुत बाद का है। खूब संभव है कि इन शास्त्रों मे भी ऐसी बहुत सी बातें मिल गई हों जो महावीर स्वामी के बाद की हों जैसा कि हम बौद्ध संगीतियों के संकलनों मे कभी कभी पाते है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन मे प्राचीन अंश है ही नहीं। सही बात यह है कि संग्रह और संकलन जब कभी भी क्यों न हुआ हो, उसमे निश्चय इस बात का ही अधिक प्रयत्न किया गया होगा कि प्राचीन अंश सुरक्षित रखे जाय, यह नहीं कि नई बातें मिलाई जाय। इसलिये जो बात निस्संदेह कही जा सकती है, वह यह है कि इन अङ्गों मे प्राचीन अश काफी अधिक मात्रा मे हैं। यद्यपि अङ्ग-ग्रंथों की भीतरी गवाही के बल पर पंडितों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इन मे के बहुत से स्पष्ट ही महावीर स्वामी के बाद के आचार्यों के लिखे हुए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि आर्य सुधर्म, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर स्वामी के परवर्ती अनेक आचार्य अङ्गों और उपागों के रचयिता माने जाते है।

बारह अङ्ग, बारह उपाग, दस प्रकीर्णक, छ छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और दो अन्य ग्रंथ—नंदि सूत्र (नंदि सुत्त) और अनुयोग द्वार (अणुयोगदार) इन समस्त सिद्धान्त ग्रंथों में जैन मत का स्थापन और विरुद्ध मत का खण्डन और जैन परम्परा की कहानिया विवृत हैं। इन मे कितने ही न केवल अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह लिये हुए है बल्कि प्राचीनतम भारतीय विज्ञान के समझने के अद्वितीय साधन है। बारह उपांगों मे से दो सूर्य-प्रज्ञप्ति और चन्द्र-प्रज्ञप्ति (जो वस्तुतः मिलती-जुलती पुस्तकें हैं) संसार के ज्योतिषिक साहित्य मे अपने विचित्र और अनन्य साधारण सिद्धान्त के लिये काफी महत्त्व-पूर्ण हैं। इन के अनुसार आकाश मे दीखने वाले ज्योतिष्क पिण्ड दो दो हैं। अर्थात् दो सूर्य है, दो चंद्र है, दो-दो सभी नक्षत्र। गणना की दृष्टि से इनके साथ एक मात्र तुलनीय ग्रंथ सागध मुनि का 'वेदाग ज्योतिष' है। ये सन् ईसवी के पूर्व की भारतीय ज्योतिषिक चिन्ताओं के अपूर्व निदर्शक हैं। सब मिला कर जैन-सिद्धान्त ग्रथों मे बहुत सी ज्ञातव्य और महत्वपूर्ण सामग्री बिखरी पडी है।

अभी तक मैं जो बातें कहता रहा, वह श्वेताम्बर संप्रदाय द्वारा मान्य समझे जाने वाले सिद्धान्त-ग्रंथों की रही। दिगम्बर-परम्परा और तरह की है। उन के मत से भगवान् महावीर की दिव्यवाणी को अवधारण कर के उनके प्रथम शिष्य

इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अङ्ग-पूर्वो की रचना की थी। उन्होंने अपने साधर्मी सुधर्मा (लोहार्य) को और उन्होंने जंबू स्वामी को दिया। जंबूस्वामी से अन्य मुनियों ने उसे सीखा। यह सब कुछ महावीर स्वामी के जीवन-काल मे ही हुआ। इसके बाद पाँच श्रुतकेवलियों का आविर्भाव हुआ। वे हैं—विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्र-बाहु। इन्हे सभी अङ्ग-उपांगों का पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाण के छ वर्ष बाद तक जंबूस्वामी का और उनके सौ वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात् इस दूसरी परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद तक अङ्ग और पूर्वों का अस्तित्व निसदिग्ध था। इस के बाद वे क्रमशः लुप्त होते गये और महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तो वे इस प्रकार से सर्वथा ही लुप्त हो गये। अन्तिम अङ्गधारी लोहार्य (द्वितीय) बताये जाते है जिन्हे सिर्फ एक आचाराग का ही ज्ञान था।

इस के बाद अङ्ग और पूर्वों के एक देश के और एक देश के भी एक अंश के ज्ञाता आचार्य हुए। इन मे धरसेनाचार्य जो सौराष्ट्र के निवासी थे, विशेष उल्लेख्य हैं। कहते हैं, इन्हे अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तुगत महाप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम काल मे आन्ध्र देश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो शिष्यों को बुला कर पढाया और तब

इन शिष्यों ने लगभग विक्रम की दूसरी शताब्दी मे षट् खण्डागम तथा कापाय प्राभृत सिद्धान्तों की रचना की। ये सिद्धान-ग्रंथ बड़ी विशाल टीकाओं के सहित अब तक सिर्फ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान मे सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इन मे से दो टीका-ग्रन्थ धवला और जय-धवला बाहर आये हैं और उन मे से एक वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इस टीका के निर्माण का समय शक संवत् ७३८ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-पण्णति को उपाग माना है, और दिगम्बरों ने इन की दृष्टिवाद के पहले भेद परिकर्म मे गणना की है। इसी तरह श्वेताम्बरों के अनुसार जो सामायिक, संस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यक के अश विशेष हैं, उन्हे दिगम्बरो ने अङ्ग-बाह्य के चौदह भेदों मे गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रंथ भी अङ्ग-बाह्य हैं। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य भेद श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी माने गये हैं और उपाग एक तरह से अङ्गबाह्य ही हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में उपाग-भेद का उल्लेख नहीं है।

परन्तु उक्त अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रंथों के दिगम्बर संप्रदाय मे सिर्फ नाम ही नाम हैं; इन नामों के कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनका कहना है कि वे सब नष्ट हो चुके हैं।

दिगम्बरों ने एक दूसरे ढंग से भी समस्त जैन साहित्य का वर्गीकरण कर के उसे चार भागों मे विभक्त किया है:— (१) प्रथमानुयोग जिसमे पुराण पुरुषों के चरित्र और कथा-ग्रंथ है:—जैसे, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, त्रिषष्ठिलक्षण महा-पुराण (आदि पुराण और उत्तर पुराण)। (२) करणानुयोग, जिसमें भूगोल-खगोल का, चारों गतियों का और काल-विभाग का वर्णन है—जैसे, त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमे जीव अजीव आदि तत्वों का, पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष का वर्णन है, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उमास्वातिकाय तत्वार्थागम आदि। (४) चर-णानुयोग जिसमे मुनियों और श्रावकों के आचार का वर्णन हो, जैसे वट्टकेरका मूलाचार, आशाधर का सागार-अनागार धर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि। इन चार अनुयोगों को वेद भी कहा गया है।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणि के सिद्धान्त-ग्रन्थ-संकलन के पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है। सिद्धात-ग्रन्थों मे कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हे निश्चित रूप से किसी आचार्य की कृति कहा जा सकता है। बाद मे तो ऐसे ग्रन्थों

की भरमार हो गयी। साधारणत. ये ग्रन्थ जैन प्राकृत में लिखे जाते रहे, पर संस्कृत भाषा ने भी सन् ईसवी के बाद प्रवेश पाया। कई जैन आचार्यों ने संस्कृत भाषा पर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रंश को त्यागा नहीं गया। संस्कृत को भी लोक-सुलभ बनाने की चेष्टा की गई। यह पहले ही बताया गया है कि भद्रबाहु महावीर स्वामी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे वर्त्तमान थे। कल्प-सूत्र उन्हीं का लिखा हुआ कहा जाता है। दिगम्बर लोग एक और भद्रबाहु की चर्चा करते हैं जो सन् ईसवी से बारह वर्ष पहले हुए थे। यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रबाहु की रचना है। कुन्दकुन्द ने प्राकृत में ही ग्रन्थ लिखे है। इन के सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमल सूरि, पालित्त आदि आचार्य सन् ईसवी के कुछ आगे-पीछे उत्पन्न हुए, जिन मे से कई दोनों सम्प्रदायों मे समान भाव से आदृत हैं। पाचवीं शताब्दी के बाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी भारतीय दर्शन के इतिहास मे अपनी उज्ज्वल आभा छोड गई। प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट का जन्म इन्हीं शताब्दियों मे हुआ, जिन्होंने बौद्धों और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलंक) पर कटु आक्रमण किया तथा बदले मे जैन

आचार्यों (विशेषरूप से प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द) द्वारा प्रत्याक्रमण पाया। इन्हीं शताब्दियों में सुप्रसिद्ध आचार्य शङ्करस्वामी हुए जिन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए जो ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न हो कर समस्त ब्राह्मण शास्त्रों के अध्ययन के बाद जैन हुए थे। इन के लिखे हुए ८८ ग्रंथ प्राप्त हुए है जिनमे बहुत से छप चुके हैं।

बारहवीं शताब्दी मे प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनों मे समान भाव से कलम चलाई। इन नाना विषयों मे, नाना भाषाओं मे और नाना मतों में अगाध पाडित्य प्राप्त करने के कारण इन्हे शिष्य-मण्डली 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा करती थी। निःसन्देह वे इस पदवी के अधिकारी भी थे। इस शताब्दी मे और इसके बाद भी जैन ग्रन्थों और टीकाओं की बाढ़-सी आ गई। इन दिनों की लिखी हुई सिद्धांत-ग्रंथों की अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। असल मे यह युग ही टीका का था, भारतीय मनीषा सर्वत्र टीका में व्यस्त थी। मूल ग्रंथों की टीकायें, उनकी भी टीकायें—इस प्रकार कभी कभी यह टीका-परम्परा छ-छ, आठ-आठ पुश्त तक चला करती थी। लेकिन ये टीकायें सर्वत्र चिन्तन की परतंत्रता की द्योतक नहीं थीं। कभी कभी तो ये स्वतंत्र ग्रंथ ही हुआ करती थीं। शुरू

शुरू मे तो यह वात और भी सच थी। प्राचीन ग्रंथों को उन से जोड़ रखने का उद्देश्य यही हुआ करता था कि उन को आर्य-सम्मत सिद्ध किया जा सके।

मैं यहा जैन आचार्यों के लिखे विविध पुराण-ग्रंथ और नाना प्रकार के आख्यान-ग्रन्थों की सूचि गिना कर आप का समय नष्ट नहीं करना चाहता, यद्यपि भारतीय कथा-साहित्य का विद्यार्थी इन ग्रन्थो मे काफी रस पा सकता है। विमल-सूरि का पद्म-चरित नामक प्राकृत ग्रन्थ, जिस मे रामायण की कथा जैन परम्परा के अनुसार वर्णित है, बहुत ही मनोरंजक ग्रंथ है। इसी प्रकार का एक ग्रन्थ सातवीं शताब्दी मे रविषेण ने लिखा था जो प्राय. विमलसूरि के ग्रन्थ का ही संस्कृत रूपान्तर-सा है। ऐसी कथाये गुणभद्र के उत्तरपुराण मे और हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित' मे भी आई है। अन्तिम कथा जैन रामायण के नाम से प्रसिद्धि पा सकी है।

परन्तु इन कथा-आख्यायिकाओं के प्रसंग मे जैन ऐतिहासिक प्रबन्धो की चर्चा न करूं तो मै भारतीय साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा करने का दोप-भागी हूगा। चन्द्रप्रभ सूरि का प्रभावक चरित, मेरुतुग का प्रवन्ध चिंतामणि, राजशेखर का प्रवन्ध कोप, जिनप्रभ सूरि का तीर्थकल्प इत्यादि रचनाये नाना दृष्टियो से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन मे

से कई एक को अति परिश्रम और सावधानी के साथ हाल ही मे मुनि श्री जिनविजयजी ने सम्पादित किया है। उनकी इस सम्पादित ग्रन्थमाला ने निश्चित रूप से भारतीय विद्वत्ता का सम्मान वढ़ाया है।

इसी सिलसिले मे जैन मुनियो की लिखी हुई कहानियों की पुस्तको का नाम भी लिया जा सकता है। पालित्तसूरि की 'तरंगवती' कथा काफी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत काव्य 'समराइच्च' भी एक धार्मिक कथा-काव्य है। धनपाल का अपभ्रंश काव्य 'भविसयत्त' भी काफी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण काव्य है। ऐसी और भी अनेक कहानिया है जो वहुत कुछ साम्प्रदायिक कट्टरता से परे हैं। और वे पुस्तके निश्चित रूप से जैन ग्रन्थों पर लगाये गये दो दोषों का क्षालन कर सकती है। ये दो दोष हैं—शुष्कता और मानव-रस (human interest) का अभाव। जैन आचार्यों ने कथाओं का एक विशाल साहित्य निर्माण किया है जो नाना दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इन से जन-साधारण की मनोवृत्ति के अध्ययनेच्छुक विद्यार्थी को तो मदद मिलेगी ही पर वे लोग भी वहुत आनन्द पायेंगे जो मानव-रस के प्यासे है। इन के सिवाय जैन आचार्यों ने नाटक, चम्पू आदि काव्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे असंख्य ग्रन्थ लिखे हैं, जिन मे वहुत कम छपे हैं, और जो छपे है उन मे भी वहुत

ही कम ऐसे है जिन्हें सुसम्पादित कहा जा सके। इन ग्रंथो मे ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री विखरी पड़ी है। दुर्भाग्य-वश अव भी भारतीय इतिहास के निर्माण मे इन ग्रन्थों की सहायता वहुत कम ली गई है। इस क्षेत्र मे आदरणीय मुनि श्री विजयेन्द्रसूरि जैसे पंडित महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इस वृद्धावस्था मे भी मुनि जी जिस लगन और परिश्रम से इस क्षेत्र मे डटे हुए हैं, वह अनुकरणीय है।

जैन आचार्यों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन उनका दार्श-निक साहित्य है। यह मानी हुई वात है कि इन पंडितो ने न्याय शास्त्र को पूर्णता तक पहुंचाने मे वहुत वड़ा कार्य किया है। इन मे सव से प्राचीन आचार्य, जो दोनो सम्प्रदायों मे समान भाव से समादृत हैं, समन्तभद्र और सिद्धसेन हैं। कुंद-कुंद, अमृत चंद्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनंदि, अकलंक प्रभाचंद्र आदि दिगम्वर पंडितो ने और हरिभद्र मल्लवादी, मल्लि-षेण, वादिदेव सूरी, अभयदेव, हेमचंद्र, यशोविजय आदि श्वेताम्वर आचार्यों ने भारतीय चिन्ता को वहुत अधिक समृद्ध किया है। हाल ही मे सुप्रसिद्ध विद्वान् आदरणीय पं० सुखलालजी ने 'प्रमाण-मीमांसा' नामक हेमचंद्राचार्य के ग्रंथ का अत्यन्त पांडित्यपूर्ण ढंग से सम्पादन किया है। मुनि जिनविजयजी ने ठीक ही कहा है कि 'इस प्रकार सुसंपादित हो कर हिंदी मे शायद ही कोई दार्शनिक ग्रंथ निकला हो।'

बम्बई से मेरे मित्र पं० जगदीशचंद्रजी जैन ने स्याद्वाद-मंजरी
का बहुत उत्तम हिंदी अनुवाद निकाला है। इस प्रकार
और भी बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं।

विशाल जैन साहित्य का घंटे आध घंटे मे परिचय
कराना बड़ा दुस्तर व्यापार है। जैन आचार्यों ने उल्लेख
योग्य ऐसा कोई साहित्यांग नहीं छोडा है जिसमे अनेकों
पुस्तकें न लिखी हों। क्या काव्य, क्या नाटक, क्या ज्योतिष,
क्या आयुर्वेद, क्या कोष, क्या अलंकार, क्या गणित, क्या
राजनीति, सभी विषयों पर मुनियों ने अधिकारपूर्वक कलम
चलाई है। यह एक अद्भुत विरोधाभास-सा सुनाई देगा
कि धर्म के मामले मे समझौते को बिल्कुल ही अस्वीकार
करनेवाले, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों मे तिल भर भी झुकने
को राजी न होने वाले जैन आचार्य गण शास्त्रीय मामले मे
अत्यन्त उदार रहे हैं। ऐसा प्रायः नहीं देखा गया है कि
ब्राह्मणादि सम्प्रदाय के लोग जैन आचार्यों की पुस्तकों पर
टीका लिखते हो, पर ऐसा प्रायः ही देखा गया है कि जैन
पंडितों ने ब्राह्मणादि, बौद्धादि ग्रंथकारों की पुस्तकों पर
अत्यन्त परिश्रम और योग्यता पूर्वक टीकायें लिखी हैं।
कट्टरता और उदारता का यह विचित्र योग है। इस कट्टरता
और उदारता के अपूर्व योग ने ही जैन साहित्य को अत्यधिक
जटिल और विचित्र बना दिया है। जैन आचार्य गण

साहित्यिक क्षेत्र मे बौद्धो की अपेक्षा बहुत अधिक असाम्प्रदा-यिक रहे है।

पर जैन पंडितों की सब से बड़ी देन है—उनका लोक-भाषा पर दृढता पूर्वक जमे रहना। यह जैन आचार्यों की ही कृपा का फल है कि अपभ्रंश भाषा के काव्य और व्याकरण अभी तक उपलब्ध हैं। जैन पंडित वर्तमान भाषाओं मे से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड़ या कनाड़ी साहित्य के आदिकाल के निर्माताओ में से हैं। कनाड़ी साहित्य मे तो ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक इन्हीं लोग का एकाधिपत्य रहा है। कहते हैं कि कनाड़ी के समस्त उपलब्ध साहित्य का प्रायः दो-तिहाई हिस्सा जैन विद्वानो के रचे साहित्य का है।

इस प्रकार नाना दृष्टियो से जैन साहित्य बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। वह भारतीय साहित्य के आदिकाल से ले कर अब तक कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय जीवन, साधना और साहित्य को प्रभावित्त करता रहा है और निसंदेह भविष्य मे भी करता रहेगा।

देवियो और सज्जनो, ग्रंथो और ग्रंथकारो के नामो के इस शुष्क बीहड़ मे बडी देर तक मैने आपको भटका रखा। मैं जैन साहित्य के मर्मस्थल तक आप को ले जाने में असमर्थ रहा, इसके लिये मैं क्षमा मांगता हू। मेरे लिये इस अल्प काल

मे ऐसा करना संभव नहीं था। परन्तु विदा लेते लेते मैं आप को याद दिला देना चाहता हूं कि जैन साधना और जैन साहित्य की अखण्ड जीवन-शक्ति के मूल में जो रहस्य है, वह उसकी सैद्धान्तिक दृढ़ता है। जैन विद्वान् सिद्धान्त के आगे कभी झुकने को राजी नहीं हुए, उन्होंने परिस्थितियों और सुयोग या दुर्योग से कभी सुलह नहीं की। अपने संयम, त्याग, नियम और कठोर व्रत पर वे पहाड की भाँति अटल खड़े रहे, उन्होंने कभी समझौता करने की नहीं सोची। कष्ट आये और उन्होंने उन्हें झेल लिया, दुर्दिन आये और उन्होंने उनका मुकावला किया पर कभी भी इन से दे-लेकर निबटने की कोशिश उन्होंने नहीं की। यही कारण है कि यद्यपि वे देश-देशान्तर मे नहीं फैल सके, पर काल से कालान्तर तक अपने प्रायः मूल रूप मे ही वे जरूर फैल सके। जैन शास्त्रों मे जो शुष्कता दीखती है, वह उसी अनमनीय सिद्धान्त-प्रेम के कारण है। मानव-रस की कमी उन में इसलिये है कि वे इस वात मे विश्वास करते थे कि मनुष्य-दुर्बलता के प्रति सहानुभूति दिखाना उस को शह देने के समान है। उन्होंने व्रत और नियम को मनुष्य से ऊपर माना। ऐसा मानना ठीक हो सकता है, नहीं भी, पर हमारे आज के विचारणीय विपय के लिये वह निश्चित रूप से उसकी अखंड जीवनी शक्ति का कारण है। हजारों वर्ष के इस सुदीर्घ जीवन में

अपने निजत्व की रक्षा करते हुए जीवित रहना जैन धर्म और साहित्य की अपनी विशेषता है।

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र ने एक श्लोक मे अपने निज के और समस्त जैन सम्प्रदाय के औदार्य का वहुत ही सुन्दर परिचय दिया है। इस में एक ही साथ हृदय की विशालता और सिद्धान्त की दृढ़ता प्रकट हुई हैं। आचार्य ने कहा है कि स्थान और काल को ले कर हमें सिर नहीं मारना है, नाम को ले कर झगड़ा नहीं करना है। हम तो मानते है, जो दोष और कलुष से अतीत है, जिसके भव-बीज के अङ्कुर से उत्पन्न रागादिक क्षयप्राप्त हो गये हैं, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो—कुछ भी नाम क्यों न हो, वही हमारा भगवान है, हम उसके सामने सिर नवाते हैं। आप से विदा लेते समय आचार्य की इस सहृदय उदार वाणी से अधिक प्रभावशाली कोई वात मुझे नहीं सूझती—

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवान्
एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै ॥

विश्व-विप्लव और अहिंसा

[वक्ता—श्री काका कालेलकर. वर्धा]
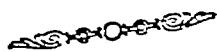
अमेरिका में प्रेअरिज नामक घास के बड़े बड़े खेत होते हैं। ऊँचा ऊँचा घास बड़े बड़े जानवरों को भी ढक देता है। मीलों तक घास ही घास होता है। ऐसे स्थान मे मुसाफरी करना आसान नहीं है। कब कोई शेर या दूसरा जानवर सामने मिल जाएगा, यह कहना मुश्किल होता है। हमेशा सतर्क होकर चलना पड़ता है।

लेकिन ऐसे घास के जंगलों मे असली खतरा तो आग का है। कहीं दूर भी आग लगी, तो उसकी ज्वालाओ के

नजदीक आने में देरी नहीं लगती है। और आदमी भागे भी, तो किस तरफ और किस तरह भागे? घास मे से रास्ता निकालना कठिन होता है। और जब हवा चलती है, तब तो ज्वालाएँ चाहे जिस दिशा मे फैलने लगती है।

ऐसी हालत मे बचने का एक ही उपाय रहता है। जहाँ कहीं आदमी खड़े हों, वहीं पर वे घास उखाड़ना या काटना शुरू कर दें और अपने आसपास जितनी हो सके अधिक से अधिक जगह खुली कर दें। जहाँ घास है, वहाँ पर आग का डर है। जहाँ घास है ही नहीं, वहाँ आते ही आग आप ही आप शान्त हो जाती है। 'अतृणे पतितो वह्नि' स्वयमेवोपशाम्यति'।

आज विश्व-व्यापी युद्ध की ज्वालाएँ हमारे नजदीक आने लगी हैं। रोज सुबह उठ कर यही देखना पड़ता है कि आज कौन-सा देश युद्ध मे शरीक हुआ है—आज कहाँ पर नई ज्वालाएँ सुलगी हैं।

पुराने युद्ध स्थानिक होते थे। दो देशो की फौजें आपस मे कुछ दिनों के लिये लड़ीं, कुछ फैसला हो गया और फिर से शान्ति स्थापित हो गयी, सारी मनुष्यजाति युद्ध के दावानल मे नहीं फँसती थी। पुराने युद्ध किसी राजा के कीर्ति-लोभ या जमीन-लोभ के कारण होते थे। अब के युद्ध विश्वव्यापी आर्थिक संगठन के हैं—महाजातियों को खा

जाने वाले हैं। और उनके पीछे मनुष्य संगठन के सिद्धान्त-भेद का भी ख्याल रहता है। रशिया को न केवल राज्य-तृष्णा है किन्तु साम्यवाद का भी दुनिया मे प्रचार करना है। जर्मनी की विजय होने से उसे अपने ढंग का राज्य चलाना है। और अंग्रेजों को अपनी जमायी हुई राज्य-पद्धति रखनी है।

इङ्गलंड और अमेरिका प्रजा-सत्ता की दुहाई देते हैं। जर्मनी की राज्य-पद्धति कैसी है, उसको दूर से देख कर ही हम समझ गये हैं। रशिया के साम्यवाद मे व्यक्ति-स्वातंत्र्य का क्या होगा, यह भी हम जानते हैं। अगर भारत-वासी को हृदय से पूछा जाय तो वह कहेगा कि हमारा इन तीनों मे से किसी से भी सम्बन्ध न हो तो भगवान की कृपा। इन तीनों की राज्य-पद्धति में युद्ध तो ध्रुव ही है। जिस तरह हरएक उपन्यास के अन्त मे नायक-नायिका की शादी आवश्यम्भावी है, इसी तरह हरएक राष्ट्र की प्रगति की पद्धति के पीछे युद्ध आ ही जाता है। प्रगति के फल स्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया है। और हम तो पाशवी युद्ध से बचने का तरीका ढूढ रहे हैं।

आज की दुनिया की हालत जरा ध्यान से देखें;

जितने ख्रिस्ती राष्ट्र कहलाते हैं, वे सब के सब लड़ रहे हैं। चीन और जापान अगर बौद्ध राष्ट्र गिने जायँ तो वे

भी आपस मे लड रहे हैं। इस्लामी और हिन्दू राष्ट्र अभी तक युद्ध से अलिप्त है। और धर्म मात्र का विरोधी, साम्यवादी रशिया अपना मौका ताक रहा है।

अमेरिका की तैयारी है। रशिया तैयार है। मुसलमान राष्ट्र कुछ दूरदृष्टि से आज तक अलिप्त रहे हैं। किन्तु रशिया उन्हे युद्ध मे खींचे विना नहीं रहेगा। सरकारी तौर पर हिन्दुस्तान युद्ध्यमान होते हुए भी राष्ट्रीय भारत युद्ध से अलिप्त है और उसकी अलिप्तता अन्य सब राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ विशेष है। उसने विचार पूर्वक तत्त्वनिष्ठ होकर युद्ध टालने का निश्चय किया है। सारी दुनिया मे हिन्दुस्तान की यह भूमिका अलौकिक है।' लेकिन दुर्वल हिन्दू और मुसलमान आपस में लड कर अहिंसा का राष्ट्रीय पुण्य खाक मे मिला देते हैं। इसमे साधारणतया हिन्दू कह सकते हैं और वे कहते भी हैं कि "हम कहाँ लड़ने जाते हैं? हम तो सिर्फ हम पर जो नाजायज हमला होता है, उसका स्वाभाविक प्रतिकार करते है।"

उद्देश्य कुछ भी हो, परिणाम एक ही है। लड़ने की वृत्ति का रोग सर्वत्र फैल रहा है, सर्वत्र युद्ध मच रहा है।

ऐसे जगत में अहिंसा पर श्रद्धा की अविचल मंगल-दृष्टि रख कर राष्ट्र को कल्याण का मार्ग दिखाते रहना धर्मावतार का ही काम है। आज तक जितने अवतार हुए, उन्होंने अहिंसा को इतनी सूक्ष्मता से नहीं पहचाना था और इतनी

दृढ़ता से जीवन के अंगोपागों में उसका विनियोग भी नहीं बताया था। अखिल मनुष्यजाति का ध्यान इसके पहले अहिंसा की ओर इतना खींचा भी नहीं गया था। दुनिया की श्रद्धा अहिंसा पर आज भले ही न बैठे, और हरएक राष्ट्र की महाप्रजा भले ही हिंसामूर्ति बन गयी हो; लेकिन दुनिया में आज एक भी आदमी ऐसा नहीं रहा है जो हिंसा को कल्याणकारी समझता हो। हिंसा अपरिहार्य है, हिंसा के बिना हम बच नहीं सकते हैं, ऐसी ही पुकार सब तरफ से सुनी जाती है। और हरएक राष्ट्र कहता है कि युद्ध हम पर लादा गया है। हम तो शाति से ही रहना चाहते थे, किन्तु हमारे दुश्मन हमे वैसा नहीं करने देते हैं। आज का विश्व-विजय भी आत्मरक्षा का ही एक रूप है।

ऐसी दुनिया मे अकेले गाँधीजी ही यह श्रद्धा धारण किये हुए हैं कि एक समूचा राष्ट्र अहिंसा का स्वीकार कर सकता है, पालन कर सकता है। और अन्य राष्ट्रों के नेता इस श्रद्धा से चल रहे हैं कि युद्ध का जोश मनुष्य मात्र मे पैदा किया जा सकता है।

अब सवाल इतना ही है कि क्या गाधीजी की श्रद्धा का स्वीकार कर यह देश युद्ध से मुक्त रहने की कोशिश करेगा—अहिंसा का वीर्य दिखायेगा? अगर गाधीजी की अहिंसा का बीज राष्ट्र के हृदय मे वोया गया है तो राष्ट्र के काफी लोगों

मे उसका जीवित संचार दीख पडना चाहिये। हिंसक युद्ध की तैयारी से अहिंसक युद्ध की तैयारी कम नहीं होती है। आज अंग्रेज और जर्मन लोग 'प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च' लडने को तैयार हुए हैं। गाधीजी भी कहते है कि जान-माल का मोह सत्याग्रही को छोडना ही चाहिये। तपस्वी वैरागी की तरह नहीं, किन्तु निर्भय वीर की तरह जान और माल की परवा हमे छोडनी चाहिये। हिटलर और चर्चिल अपने अपने राष्ट्र को कहते हैं कि सर्वस्व का नाश हुआ तो भी वेहतर, लेकिन अपने राष्ट्र की इज्जत और आजादी के लिये मारते जाओ और मरते जाओ। गाधीजी भी कहते हैं कि "अपना कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह जालिमों का है। अपना है सिर्फ अपना हृदय और अपना आत्मतत्त्व। उसी के सहारे आत्मा की रक्षा करो, यानी प्रेमधर्म की रक्षा करो; किसी से डरो नहीं और किसी का नाश करो नहीं। स्वयं निर्भय होकर दुनिया को अभय-दान दे दो।"

एक बात हमे अच्छी तरह से समझनी चाहिये। गाधीजी नहीं लडने की बात नहीं करते हैं, युद्ध का त्याग नहीं सिखाते हैं। धर्म-युद्ध आवश्यक है—दोनों पक्षों को पावन करनेवाले है। युद्ध के विना आत्मा जागृत नहीं रह सकता है, आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती है। लेकिन वह युद्ध शुद्ध अहिंसक युद्ध हो; उस में प्रेमधर्म का, अभयदान का तनिक भी

द्रोह नहीं होना चाहिये। हिंसक युद्ध मे शत्रु के अधिक से अधिक लोगों को मारना, घायल करना, या युद्ध के लिये नाकाबिल बना देना और अपने लोगों की जान और लडायक वृत्ति बचाते रहना, यही मुख्य उद्देश्य होता है। अहिंसक युद्ध मे शान्ति-सेना का हरएक आदमी अपनी जान के लिये बे-परवा होता है और शत्रु का रुधिर गिरा कर अपना पक्ष सबल करना कबूल नहीं करता है। अहिंसक योद्धा शत्रु के सैनिकों को मारता नहीं है, लेकिन उनकी शत्रुता ही नष्ट कर देता है। शत्रु को डरा कर नहीं लेकिन उसे निर्भय करके वह उसकी युद्ध-योग्यता हटा देता है। अगर हम किसी की तलवार को तोड़ते नहीं हैं लेकिन उसकी तलवार को पारसमणि का स्पर्श कर देते हैं, तो भी उसके शस्त्र तो हमने छीन ही लिये हैं।

शत्रु हमें मारता है—इसी हेतु से कि हम और हमारे पक्ष के लोग अपने नाश से डरें और और शत्रु की शरण जायँ। सत्याग्रह में इस बारे में शत्रु को निराश करने की बात होती है। शत्रु की हिसा करने की जितनी शक्ति हो, उससे अधिक अगर हमारी बलिदान देने की शक्ति बढ गयी, तो हमारी जीत ही है। शत्रु को मारने से या तो उसका जोश बढता है या उसका द्वेष। डरपोक लोगों में तो हिसा-वृत्ति सब से अधिक होती है। जहाँ अहिंसक बहादुरी है, वहाँ शत्रु-पक्ष को बढ़ने का कुछ भी सहारा नहीं मिलता है। ऐसे युद्ध मे दुनिया के सामने और अपने

हृदय के सामने हिंसक आदमी तिरस्करणीय जल्लाद ही बन जाता है। और मनुष्य-हृदय को यह स्थिति बिलकुल हजम नहीं होती है।

अगर दुनिया में ईश्वर है, तो गांधीजी के इस अहिंसक युद्ध-धर्म की विजय ही होगी और वह सर्वत्र फैल जायगा।

यहा ईश्वर के माने हैं निरपवाद, निःस्वार्थ सार्वभौम प्रेम। इस ईश्वर का प्रादुर्भाव तो हुआ है, किन्तु अभी उसका राज्य स्थापित नहीं हुआ है। गांधीजी कहते हैं कि हम ईश्वर का स्वीकार करें और उसके सैनिक बन कर के उसके राज्य की स्थापना करने में अपना सर्वस्व अर्पण करें।

(२)

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब अमेरिका के लोग गांधीजी को अपना सिद्धान्त सुनाने के लिये बुलाते थे, तब गाधीजी वहाँ पर क्यों नहीं गये? अगर गाधीजी अमेरिका में कुछ असर कर के आते तो आज के युद्ध मे उसका लाभ नहीं मिलता? प्रश्न उठना स्वाभाविक है। गांधीजी अमेरिका न गये, उसका भी कुछ रहस्य है। अमेरिका का स्वातंत्र्यवाद और प्रजातंत्रवाद कितना भी सुन्दर हो, उसकी बुनियाद में सैन्य-शक्ति यानी बाहुबल ही है। अमेरिका का हिंसा पर का विश्वास कम होने के लिये कोई ऐतिहासिक कारण पैदा नहीं हुआ है।

दूसरा एक मुख्य कारण यह है कि अमेरिका सारी दुनिया मे सब से अधिक धनी है। उसके पास जाकर उसे सिखाने का प्रयत्न करना अपनी प्रतिष्ठा को खोना है और उसकी धन-परायणता को अधिक मजबूत करना है। अमेरिका ही एक ऐसा देश है कि जिसके पास जा कर सिखाने से वह सीखने वाला नहीं है। जब वह कभी भी कुछ चमत्कार देखेगा, तब स्वयं ही आकर सीखने की कोशिश करेगा।

जब कभी कोई अमेरिकन गांधीजी को बुलाने आये हैं, तब उन्होंने यही कहा है कि "मुझे अपने देश के द्वारा अहिंसा का चमत्कार सिद्ध करने दो। अमेरिका आप ही आप आकर उसे अच्छी तरह से समझ लेगा।"

जब कभी किसी अमेरिकन ने गांधीजी से पूछा है कि अमेरिका के लिये आप का क्या सदेश है, तब गांधीजी ने अत्यन्त नम्र शब्दों में अपना वज्रप्राय आत्म-विश्वास इन शब्दों मे प्रकट किया है—"भारत में हम लोग यह जो बड़ा और अलौकिक प्रयोग कर रहे हैं, उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने को मैं अमेरिका को कहूंगा। अगर इसमें से कुछ मिले तो अमेरिका के लोग अपनी शक्ति के अनुसार उसी चीज को ग्रहण करने और बढ़ाने की कोशिश करें।

जब कभी किसी अमेरिकन ने गांधीजी को पूछा है कि अमेरिका आप की क्या सहायता कर सकता है, तब गांधीजी ने कहा है कि "अमेरिका जैसे देश की मित्रता और सहानुभूति की कद्र हम अवश्य करते हैं, लेकिन अमेरिका हमारी सहायता कुछ नहीं कर सकेगा।"

इस पर से सिद्ध होता है कि अमेरिका सिखाने से सीखने वाला नहीं है, वह देख कर ही सीखेगा।

और रशिया ? रशिया ने हिंसा के द्वारा ही अन्याय का प्रतीकार किया है, हिंसा के द्वारा ही जनता को स्वतंत्र करने की आशा रखी है। रशिया जब देखेगा कि भारत के लोगों ने अहिंसा के रास्ते एक ऐसा साम्ययोग स्थापित किया है, जो रशिया के साम्यवाद से कहीं अच्छा है, तभी जा कर वह अहिंसा की बात सुनने को तैयार होगा।

अँग्रेज, जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन और जापानी चाहे जितने शक्तिशाली हों, इनके पास कोई भविष्य नहीं है। इन्होंने अपनी शक्ति का अन्त देख लिया है। इनकी जीवन-फिलासफी का प्रयोग हो चुका है। अगर इनकी जीवन-पद्धति मे कोई अच्छा तत्त्व रहा हो, तो उसका आगे का प्रयोग इनके हाथों होने वाला नहीं है। इन सबों का उत्तराधिकारी अमेरिका ही है। अमेरिका को भले ही नई दुनिया कहते हों, लेकिन आज वह यूरोप की पुरानी दुनिया की ही प्रतिनिधि है।

अगर भविष्य किसी के पास है तो वह रशिया और हिन्दुस्तान के पास ही है। दोनों मे ध्येयवाद है; दोनों मे गरीबों के जीवन के प्रति आदर है, दोनों मे मनुष्यजाति के उद्धार की लगन है। फरक सिर्फ साधन का ही है। रशिया का विश्वास भौतिक जीवन पर है, भारत का—भारत के सर्वोच्च नेताओं का विश्वास आत्मिक जीवन पर है। इसीलिये रशिया ध्येयवादी और सर्वकल्याणवादी होते हुए भी हिंसा के मार्ग पर विश्वास रखता है और हिन्दुस्तान अहिंसा पर।

अब. जो विश्व-विप्लव जगा हुआ है उसका अनिश्चित अन्त हो गया, तो और एक युद्ध, जो भयानक और सर्वनाशी युद्ध होगा, मनुष्यजाति को देखना पड़ेगा। किन्तु अगर यही युद्ध आगे बढ़ा तो इसमे अमेरिका को भी उतरना पड़ेगा और रशिया को भी। ऐसी हालत में हम कह सकेंगे कि हिंसा के मार्ग का जितना कुछ प्रयोग हो सकता है, मनुष्य-जाति ने कर देखा है। अब तो सिर्फ अहिंसा की ही परख करना बाकी है। अगर इस युद्ध में अमेरिका और रशिया उतर पड़े तो दुनिया हिंसा-शक्ति का परम उत्कर्ष देखेगी और उसकी व्यर्थता भी समझ जायगी। उसके बाद ही दुनिया को अहिंसा का ख्याल आ जायगा और वह प्रयोग करने को तैयार हो जायगी।

(३)

बुद्ध भगवान् ने एक छोटे से वाक्य मे युद्ध-परम्परा का कारण बता दिया है। बुद्ध भगवान् कहते हैं—"जयं वेरं पसवति" और "दुखं सेते पराजितो"। पिछले युद्ध मे जर्मनी का नाश हुआ और मित्र-राज्यों की विजय हुई, लेकिन दुनिया को शाति नहीं मिली। अगर मित्र-राज्यों के पास धर्म-राज्य का ही आदर्श था तो धर्म-राज्य की स्थापना के लिये उन्हें काफी समय मिला था। लेकिन ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। जर्मनी के मन मे वैर बढ़ता ही गया। सन् १६१८ की संधि के बाद जर्मनी एक भी दिन सुख से सोया नहीं है। 'दुखं सेते पराजितो'।

और अगर इस युद्ध मे इंगलेंड हार भी गया तो भी वह उसकी स्थायी हार थोड़े ही होने वाली है। इंगलैंड सवाई-जर्मन होकर तैयारी करेगा और जर्मनी को परास्त करने का मुहूर्त देखता रहेगा। इस तरह सेर के सामने सवा-सेर का न्याय चलता ही रहेगा। कोई-भी-पार्थिव शक्ति ऐसी नहीं है कि जिसके सामने उससे भी बढ़कर शक्ति पैदा हो न सके—"तिमिंगिल गिलोऽप्यस्ति, तद् गिलोऽप्यस्ति राघवः"। (बड़े बड़े जहाजों को निगल जाने वाले मत्स्य को 'तिमि' कहते हैं, 'तिमि' को भी बिना काटे योंही निगल जाने वाल एक महा-मत्स्य है, जिसे 'तिमिंगिल' कहते हैं। उसे भी खा जाने वाला

'तिमिंगिल गिल' है। और उसे स्वाह करने वाला जो विराट् मत्स्य है, उसका नाम है राघव।) इस तरह बड़े को खाने वाला सवाई-बड़ा दुनिया में पैदा होता ही है।

इसलिये यह एक दूसरे को खाने का मार्ग ही छोड़ देना चाहिये। इतनी दूरदर्शिता इस युद्ध के अन्त में मनुष्यजाति में आने वाली ही है। मनुष्य चाहे जितना उन्मत्त हुआ हो, पागल हुआ हो; सर्वनाश का समय ही ऐसा है, जब उसकी दृष्टि निर्मल होती है, और वह आगे का रास्ता ढूढ निकालता है। व्यक्ति का नाश हो सकता है, जाति का नहीं। सर्वनाश के किनारे पहुंचते ही मनुष्यजाति की आँखें खुल जायँगी, और वह अहिंसा को समझने लगेगी, यही हमारा विश्वास है। इस विश्व-विप्लव की तरफ अगर इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त मे सर्वनाश ही ध्रुव है। किन्तु अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त में महान् पश्चात्ताप, आत्म-शुद्धि और सर्वोदय-कारी अहिंसा की विजय है।

शर्त इतनी ही है कि ऐसे कल्पांतिक क्षण में अहिंसा पर विश्वास रखने वाली कम से कम एक जाति हो, जो अपनी श्रद्धा को न खो कर अहिंसा को ही पकड़ रखे और उसी के हाथ मे अपने को सौप दे।

'मारना' व 'मरण देना'

[*श्री काका कालेलकर*]

[श्री काका साहब का नीचे लिखा पत्र श्री घनश्यामदासजी बिरला से हमने प्रकाशनार्थ ले लिया है। पत्र पढ़ने से स्पष्ट है कि यह प्रकाशन के लिए नहीं लिखा गया था। अगर काका साहब के वश की बात होती तो वे इसे प्रकाशित ही नहीं करते। लेकिन हमारे आग्रह से उन्होंने सकोच के साथ इसे छापने की इजाजत दी है।

काका साहब लिखते हैं कि कलकत्ते में जब उन्होंने श्री बिरलाजी के "बापू" के प्रूफ पढ़े तब उसमें से बछड़ा-प्रकरण को लेकर उन्होंने वहाँ के पर्युषण पर्व में अहिंसा का विवेचन करते हुए उक्त प्रकरण का समर्थन किया था। जो समाज श्री दरबारीलालजी और मुनि जिन विजयजी की अहिंसा की कल्पना हजम कर सका, वही बछड़े के बारे में साबरमती के तट पर किए गये शुद्ध अहिंसा के प्रयोग का समर्थन सुन कर काफी उत्तेजित हो उठा। जैनियों की अहिंसा मानों पशु-पक्षी और कृमि-कीट को न मारने तक ही सीमित है। काका साहब इस प्रकरण को फिर से छेड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि आज उसका कोई प्रसंग या प्रयोजन नहीं है और नाहक का वाद-विवाद वे पसन्द नहीं करते हैं। किन्तु इस पत्र के छपने से शायद यह चर्चा फिर से छिड़ उठे। उसे टालने के लिए उन्होंने हमारे द्वारा पाठकों से प्रार्थना की है कि उनका यह पत्र पढ़ कर उनकी दृष्टि अगर पाठक समझ सकें तो आनन्द की बात है। अन्यथा पाठक इस बछड़ा-प्रकरण को भूल जायँ और दुनियाँ में जो मनुष्य-संहार आज चल रहा है, उसे बन्द करने के मूलग्राही इलाज की बात सोचें।

—सम्पादक, 'जीवन-साहित्य']

(१)

जैसा कि मैंने कलकत्ते मे आप से कहा था आपकी हिंसा-अहिंसा का आधार आपने गीता से लिया है और वह भी लोकमान्य के गीता-रहस्य से, और उसी को कसौटी पर आप गाधीजी की अहिंसा को कसते हैं। गाधीजी की अहिंसा समझने के लिये गीता की अहिंसा से आरम्भ नहीं करना चाहिये। बापू जी भले ही गीता को अपना जीवन-कोष कहें और अपनी अहिंसा पूर्ण रूप से गीता मे पावें किन्तु उनकी अहिंसा उनकी अपनी है। भारत के किसी भी धर्म या पंथ मे वह पूर्णतया नहीं पायी जाती। हो सकता है कि बापू जी की अहिंसा उन्हें सीधी भारतवर्ष के हृदय से ही मिली हो।

गीता की अहिंसा, जैनियों की अहिंसा, गौतम बुद्ध का अवैर का सिद्धान्त, टॉल्सटॉय का अप्रतिकार, 'क्वेकर' लोगों का शान्तिवाद (Pacifism) और बापू जी की अहिंसा इन सब मे साम्य है जरूर, लेकिन, बापू जी की अहिंसा जैसी है, वैसी औरों के उपदेशों मे नहीं पाई जाती है। वह उनकी एकदम निजी--बिलकुल मौलिक चीज है और जीवनानुभव से विकसित हुई है। बापू जी की अहिंसा एक महान् निर्भय, अजातशत्रु विश्व-प्रेमी की अहिंसा है। वैदिक और यौगिक मैत्री-करुणामुदिता के रूप की है। अगर उसके लिए गीता का कोई श्लोक उपयुक्त है तो वह है :—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरां गतिम्॥

—गीता १३-२८

बापू जी की अहिंसा उनके व्यावहारिक और अमली अद्वैत से उत्पन्न हुई है। मैंने देखा है कि उनमे किसी के लिये द्वेप तो पैदा होता ही नहीं। और किसी का अध पात देखते ही वे मानों अपना ही अध.पात हो रहा है, ऐसी आत्मीयता से अस्वस्थ और दु खी हो जाते हैं।

(२)

अहिंसा के इस अद्वितीय आधार से हम वछड़े के प्रकरण पर विचार करें। आपने अपने विवेचन मे इस भूमिका को ग्रहण किया है कि जो स्थितप्रज्ञ है, वही वछड़े का खून कर सकता है। गीता का जो श्लोक है—

यस्य नाहंकृतो भावो वुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निवध्यते॥

उसी के आधार पर आपने वछड़ा-प्रकरण का ऊहापोह किया है। मेरा ख्याल है कि इस सव घटना का सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहिये। जव वछड़े की हर तरह से सेवा कर लेने के वाद भी साफ दिखाई दिया कि यह वछड़ा वचने वाला नहीं है और अव केवल मरण की वेदना का ही अनुभव कर रहा है, तव वापू जी ने केवल शुद्ध

दया भाव से प्रेरित होकर उस बेचारे के दुख का अन्त करने का निश्चय किया। पूज्य बापू जी ने अपना निश्चय प्रकट करके हम आश्रमवासियों की भी राय पूछी। हममें से किसी का यह दावा था ही नहीं कि हम स्थितप्रज्ञ हो चुके हैं। मैंने पूज्य बापू जी से कहा कि अपनी राय देने के पहले मुझे गोशाला में जाकर बछड़े की हालत अपनी आँखों से देखनी चाहिये। जब मैं गोशाला पहुंचा तब बछड़ा असह्य वेदना से संज्ञाहीन हो कर निश्चेष्ट पड़ा था। पहले तो मैंने समझा कि बेचारा सो रहा है, इसे जहर देने की क्या आवश्यकता है? पर थोड़ी देर मे ही उसकी वेदना उठ खडी हुई। जमीन पर पड़ा पडा वह अपने पैर पटकने लगा। उसकी वेदना चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था। मैंने तुरन्त अपनी राय दी कि बछड़े को 'मरण' देना ही चाहिए।

किसी को 'मारना' एक चीज है, 'मरण देना' दूसरी चीज है। प्यासे को हम पीने के लिए पानी देते हैं, भूखों को अन्न देते हैं, डरे हुए को आश्वासन देते हैं, बीमारों को दवा देते है, इसी तरह जिसे अन्तिम वेदनाएँ होती हों, उसको उसी के हित के लिए हम मरण और शान्ति देते हैं। मरण देकर ही हम उसे (दुःख से) बचा सकते हैं।

ऐसी समाज-सेवा करना, अपना उत्तरदायित्व समझने

वाले हरएक विचारवान सज्जन का धर्म है। इस धर्म के पालन के लिये स्थितप्रज्ञ की ऊंचाई तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं है। जिस तरह आजकल के दन्त-वैद्य सलाह देते हैं कि हमारा दांत ठीक हो सकता है या उसे निकाल ही देना पड़ेगा, या जिस तरह डाक्टर राय देता है कि सडा हुआ घाव दवा से ठीक हो जायेगा या उसे काटना ही होगा। उसी तरह अमुक शरीर बच सकता है या उसे तो मरण देना ही श्रेयस्कर है, यह भी कोई सुयोग्य डाक्टर मरीज के स्नेही साथियों या सगे-सम्बन्धियो के साथ सलाह करके निश्चित कर सकता है। जब शरीर के टिकने की आशा ही न रही तब वेदना सहन करने देने की अपेक्षा उसे मरण देकर शान्ति देना ही अधिक अच्छा है।

निस्सन्देह कभी-कभी ऐसे निर्णय मे भूल भी हो सकती है। लेकिन, भूल तो दवा करने मे या नश्तर लगाने मे भी हो सकती है। भूल होने के डर से अगर हम चिकित्सा ही न करें, तो वह सब से बडी भूल होगी।

बालकों के लिए माँ-बाप ही निश्चय कर सकते हैं कि दवा दी जाय या नहीं। पशुओ के बारे मे उनके पालक ही फैसला कर सकते हैं कि अमुक पशु को मरण देने की आवश्यकता है या नहीं।

मनुष्य प्राणी के लिए मरण का निश्चय करने के पहले हम

मरीज से पूछ सकते हैं और वह भी स्वयं अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है। पशुओं के प्रति हम इतने नाजुक होकर सोच नहीं सकते। अच्छे समाज मे अपना उत्तरदायित्व समझ कर मरण देने की बात उतनी ही स्वाभाविक और साधारण होनी चाहिये जितनी कि आहार, दवा और आराम देने की बात होती है।

किसी प्राणी का देहान्त होना कोई बड़ा अनिष्ट है, ऐसा हम क्यों माने ? जैसे जीने के लिए हम मदद करते हैं, वैसे ही मरण पाने मे भी मदद हो सकती है।

आज की दुनिया मे जैसे लोभ, ईर्षा, मत्सर, द्वेष आदि बेहद बढ गये हैं, उसी तरह जीने-जिलाने का मोह भी हद से ज्यादा हो गया है।

(३)

हिंसा करते समय मनुष्य किसी के अस्तित्व से ऊब जाता है या डर जाता है और उसे खतम करने मे अपना लाभ देखता है। मरण देने मे शुद्ध दया-भाव और सेवा-भाव ही होता है। इस कर्तव्य के पालन के लिए एक क्षण की भी स्थित-प्रज्ञ अवस्था तक पहुंचने की आवश्यकता नहीं है। किसी के ऐसे मरण की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेना कोई असाधारण बात नहीं होनी चाहिए। इतनी हिम्मत कोई भी विचारवान आदमी कर सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु एक ऐसी आत्यंतिक वेदना है कि उसके सामने साधारण सी वेदना तो कोई चीज ही नहीं है। लेकिन उससे यह नहीं सिद्ध होता कि मरण देने से हम उस प्राणी की वेदना को बढ़ा रहे हैं। अगर मृत्यु में आत्यन्तिक वेदना है तो हम उसे किसी भी हालत में टाल नहीं सकते। मरण दो घंटे जल्दी देने से जीवन-द्रोह नहीं होता है और बेचारे प्राणी की वेदना भी हम कुछ घंटे कम कर सकते हैं।

मेरी समझ में मेरी विचार-प्रणाली स्वाभाविक और सहज ग्राह्य है। मनुष्यजाति में मरण के बारे में जो कायरता आ गई है उसी के कारण उक्त विचार भयानक सा प्रतीत होता है। हम मरण की जिम्मेदारी ले नहीं सकते, ऐसा कहना उसी कायरता का एक भिन्न रूप है।

इस दृष्टि से सोच कर बछड़ा-प्रकरण का अपना विवेचन कृपया फिर से पढ़ें। 'यस्यनाहंकृतोभावो' गीता का यह श्लोक किसी का घात करने की—वध करने की इच्छा के साथ जाता है। बछड़ा-प्रकरण में तो केवल अन्तिम वैधक सहायता देने का ही सवाल था।

---

* 'विश्व-विप्लव और अहिंसा' विषय पर भाषण देते हुए श्री काका साहब ने महात्मा गांधी के बछड़ा-प्रकरण का अहिंसा की दृष्टि से समर्थन किया था, जिस पर कुछ श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। जैसा कि इस पुस्तक के प्राक्कथन में कहा जा चुका है, श्री काका साहब ने

उस समय अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए यह वादा किया था कि वे बाद में इस विषय पर लेख द्वारा विवेचन करेंगे जिससे लोगों को गम्भीरता पूर्वक सोचने की सामग्री और मौका मिलेगा। चूँकि श्री काका साहब ने बिडलाजी को लिखे हुए इस पत्र में उस प्रकरण का विवेचन किया है, इसलिये इस पत्र का आवश्यक अंश 'जीवन साहित्य' से उसकी सम्पादकीय टिप्पणी सहित हमने यहाँ दिया है। इस पुस्तक में छपने से पहले श्री काका साहब ने 'जीवन-साहित्य' में छपे हुए पत्र को फिर से देख लिया है।—मंत्री

तरुण जैन संघ

का

विधान

नाम

१—इस संस्था का नाम 'तरुण जैन संघ' होगा।

कार्य-क्षेत्र

२—इस संस्था की प्रवृत्तियों का केन्द्रीय कार्य-क्षेत्र कलकत्ता होगा, किन्तु आवश्यकतानुसार कार्य-समिति उसे भारत के अन्य स्थानों मे भी फैला सकेगी।

उद्देश्य

३—इस संस्था के उद्देश्य निम्न लिखित होंगे—

(क) धार्मिक पक्षापक्ष व साम्प्रदायिक भेद-भाव से मुक्त जैन युवकों का संगठन करना और उनमे आपस मे प्रेम, सद्भाव और सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

(ख) जैन समाज की प्रगति मे बाधक होने वाले सामाजिक और 'धार्मिक' वहम तथा अन्धविश्वास, विचार-सकीर्णता एवं

रूढ़िजन्य जड़ता का विरोध करना तथा उनको समाज पर लादनेवाली हरेक प्रकार की प्रतिगामी सत्ता के साथ असहयोग करना।

(ग) जैन समाज में घुसी हुई वर्तमान धर्मान्धता, जात्यन्धता और सम्प्रदायान्धता को दूर कर उसमें स्वतंत्र विचारणा, प्रगतिशील चिन्तन और विशाल, उदार एवं व्यापक दृष्टि उत्पन्न करना।

(घ) समाज-व्यवस्था तथा राज-व्यवस्था में जिन मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में लोक-शिक्षण के विविध साधनों द्वारा विचार-जागृति उत्पन्न करना।

(ङ) जन-सेवा तथा सत्य और अहिंसा के लोक-विधायक रचनात्मक कार्यक्रम की सफलता में योग देना एवं जैन समाज के युवकों में उसका प्रचार करना।

(च) देश में जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता और स्वावलम्बन की नाना प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उनमें योग देना और समाज में उन प्रवृत्तियों का प्रचार करना जिनके द्वारा विचारों के विकास, रूढ़ि के विनाश और क्रान्ति के विस्तार की भावना को उत्पन्न होने और पुष्ट होने में मदद मिले।

सदस्यता के नियम

४—जैन समाज का प्रत्येक युवक और युवती, जिसकी उम्र सोलह वर्ष से ऊपर की हो, नियमानुसार चुने जाने पर इस संस्था का सदस्य

हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को निम्न लिखित बातों का पालन करना होगा—

व्यक्तिगत

(१) वह आदतन खादी या कम से कम स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार करेगा और अन्य वस्तुओं में भी हाथ से बनी चीजों का ही व्यवहार करने की कोशिश करेगा।

(२) व्यापक दृष्टि से सत्य और अहिसा की साधना में विश्वास रखेगा और तत्सम्बन्धी रचनात्मक कार्यक्रम की एक अथवा अधिक प्रवृत्तियों मे क्रियात्मक रूप से भाग लेना अपने जोवन का अग वनावेगा।

(३) सघ के उद्देश्यो में पूरा विश्वास रखेगा और उनकी पूर्ति के लिए जो प्रवृत्तियां चलाई जायेंगी तथा जो नियम बनेंगे, उनकी सिद्धि में योग देगा।

(४) किसी सामाजिक अथवा धार्मिक प्रश्न पर सम्मति प्रकट करने की आवश्यकता होने पर वह अपनी निरपेक्ष राय और धारणा निस्सकोच प्रकट करेगा।

(५) वह किसी सार्वजनिक सस्था में खुशामद तथा दूसरे अनुचित उपायों से अधिकार हासिल करने की हरगिज कोशिश नहीं करेगा और सत्य और अहिसा के लिये चाहे जितने महत्त्व की जगह छोड देने को तैयार रहेगा।

सामाजिक

(६) समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के तत्त्व की मात्रा कायम रखने का समर्थक होगा और उसको कुचलने वाले कार्यों का विरोध करेगा।

(७) सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में वह स्त्री की हीनता का समर्थक नहीं होगा।

(८) जाति-बंधन और जाति-बहिष्कार के दुरुपयोग के और अस्पृश्यता, अनुचित विवाह-सम्बन्ध, पर्दा आदि अनिष्टकारी सामाजिक कुरीतियों के विच्छेद का प्रयत्न करेगा।

(९) किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाने पर उसके लिए वैधव्य-पालन अनिवार्य नहीं समझेगा और उसके पुनर्विवाह का समर्थक होगा।

(१०) वह ऐसे विवाह में भाग नहीं लेगा, जिसमें लडके की आयु १८ वर्ष से और लडकी की आयु १४ वर्ष से कम होगी।

धार्मिक

(११) वह अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का अन्धानुयायी न मान कर जैन धर्म का अनुयायी मानेगा।

(१२) वह सभी धर्मों की उत्कृष्टताओं का समर्थक और सभी की बुराइयों का आलोचक एवं विरोधी रहेगा।

(१३) यदि कोई धार्मिक कहा जाने वाला वहम, विचार अथवा रूढ़ि देश और समाज की प्रगति और उत्कर्ष में बाधक

होगी, तो वह उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन अथवा उसका उच्छेद कराने का प्रयत्न करेगा और ऐसा करने में वह शास्त्रोक्त विधि-निषेध की परवाह नहीं करेगा, और उस सम्बन्ध में अपने विचार खुलासा प्रकट करेगा।

(१४) वह मदिरों में बढ़े हुए आडम्बर और शृगार-वृत्ति का विरोध करेगा और इस बात का समर्थन और प्रचार करेगा कि देवद्रव्य का उपयोग जन-कल्याण के कार्यों में किया जाय।

(१५) मदिरों और तीर्थों की दुर्व्यवस्था का विरोध करेगा और उसको मिटाने की चेष्टा करेगा।

(१६) साधु-संस्था के सम्बन्ध में वह विभिन्न सम्प्रदायों के वेश-भेद को जरा भी महत्व नहीं देगा, वरन् जिस भी साधु का जीवन और कार्य-कलाप समाज के लिये उपयोगी जान पड़ेगा, उसको इस सघ का सदस्य आदर योग्य गिनेगा, बाकी सभी सम्प्रदायों के साधुओं की, जो प्रगति-विरोधी विचारों वाले हैं और समाज के लिये जिनका जीवन निरुपयोगी है, समान रूप से उपेक्षा करेगा और यथावश्यक आलोचना करने को तैयार रहेगा।

राजकीय

(१७) वह सत्य और अहिंसा के मार्ग से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ध्येय को स्वीकार करेगा और तत्सम्बन्धी राष्ट्रीय महासभा के विविध कार्यक्रम में यथा-सम्भव सहयोग देगा।

(१८) संघ का कोई सदस्य व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा 'धार्मिक' दृष्टि से भी कोई ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे राष्ट्र हित में बाधा पहुंचती हो। अर्थात् वह राष्ट्र एवं विशाल समाज के हित को प्राधान्य देगा।

(१९) जाति, प्रांत, सम्प्रदाय, भाषा वगैरह के सब तरह के संकीर्ण दुरभिमानों से वह बिलकुल परे रहेगा।

(२०) जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय के नाते वह राजनीति में विशेषाधिकार की नीति का समर्थक नहीं होगा और इस तरह के अधिकारों के किसी आन्दोलन में किसी तरह का सहयोग नहीं देगा।

उद्देश्य-पूर्ति के साधन

५—संघ के उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निम्न साधन काम में लाये जायेंगे—

(१) पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं तथा दूसरे प्रकार के साहित्य का प्रकाशन और प्रचार।

(२) वाचनालय, पुस्तकालय, शिक्षण-केन्द्र, व्यायामशालाओं और अन्य संस्थाओं की स्थापना और संचालन।

(३) स्थानों में भाषणों, महापुरुषों की जयन्तियों और व्याख्यान-माला आदि अन्य उपयोगी समारोहों का आयोजन।

(४) दूसरे ऐसे साधनों का निर्माण और उपयोग, जो कार्य-समिति द्वारा समय समय पर निश्चित किये जायें।

सदस्य होने का तरीका

६—संघ का सदस्य होने के लिये इच्छुक व्यक्ति को कार्य-समिति द्वारा निर्धारित आवेदन पत्र भर कर प्रवेश-शुल्क के साथ संघ के मंत्री के पास भेजना होगा। मंत्री उस पत्र को कार्य-समिति के सामने पेश करेगा, और कार्य-समिति उस पर निर्णय करेगी। उस निर्णय की सूचना प्रवेश-पत्र भरने वाले व्यक्ति के पास भेज दी जायगी।

वर्ष

७—संघ के कार्य-विवरण और हिसाब आदि के लिये वर्ष १ जुलाई से ३० जून तक समझा जायगा।

शुल्क

८—प्रत्येक सदस्य को नीचे लिखे माफिक शुल्क संघ को देना होगा—

(क) प्रवेश-शुल्क रु० २), जो आवेदन-पत्र के साथ देना होगा।

(ख) मासिक शुल्क रु० १), जो प्रति मास की समाप्ति पर भेज देना होगा।

वार्षिक साधारण अधिवेशन

९—वर्षांत के बाद तीन महीनों के अन्दर किसी दिन, जिसका निर्णय कार्य-समिति करेगी, संघ का वार्षिक साधारण अधिवेशन होगा जिसमें निम्न कार्यवाही की जायगी—

(क) गत वर्ष का कार्य-विवरण और हिसाब स्वीकृति के लिये पेश किया जायगा।

(ख) आगामी वर्ष के लिये पदाधिकारियो और कार्य-समिति के सदस्यो का निर्वाचन होगा ।

(ग) सघ के विधान मे यदि कोई परिवर्तन, सशोधन आदि कार्य-समिति पेश करेगी, तो उस पर विचार और निर्णय होगा ।

[नोट—वार्षिक अधिवेशन मे केवल कार्य-समिति द्वारा पेश किये हुए सशोधनों पर ही विचार होगा, इसलिए सदस्यगण चाहे तो अपनी तरफ के सशोधन कार्य-समिति के पास वार्षिक अधिवेशन की तिथि से दो सप्ताह पहले तक भेज दें ।]

कार्य-समिति और पदाधिकारी

१०—सघ के पदाधिकारियो और कार्य-समिति का सगठन निम्न प्रकार होगा—

(क) अध्यक्ष (ख) उपाध्यक्ष (ग) मत्री (घ) छ अन्य सदस्य ।

पदाधिकारियो और कार्य-समिति के सदस्यो का चुनाव सघ के वार्षिक साधारण अधिवेशन में होगा ।

कार्य-समिति के अधिकार

११—सघ के उद्देश्यो और नियमों के अनुसार सम्पूर्ण कार्यवाही का सचालन करने, आय-व्यय का नियन्त्रण करने और सघ के अन्तर्गत होने वाली प्रवृत्तियो का उत्तरदायित्व सभालने का भार सघ की कार्य-समिति पर होगा ।

कार्य-समिति के नियम

१२—कार्य-समिति के निम्न लिखित नियम होगे—

(१) कार्य-समिति की कम से कम एक बैठक प्रति मास हुआ करेगी ।

(२) हरेक बैठक में तीन सदस्यों का कोरम समझा जायेगा।

(३) प्रत्येक बैठक की सूचना सदस्यों को कम से कम दो दिन पहले भेज दी जायेगी।

(४) वर्ष के बीच मे कार्य-समिति में कोई स्थान रिक्त होने पर सघ के साधारण सदस्यों में से कार्य-समिति उस स्थान की पूर्ति कर लेगी।

पदाधिकारियों के अधिकार

१२—पदाधिकारियों के अधिकार निम्न प्रकार होंगे—

अध्यक्ष—सघ के अध्यक्ष सघ की साधारण सभा के तथा कार्य-समिति के अधिवेशनों के सभापति होंगे और सघ के नियमानुसार कार्यवाही का सचालन करेंगे।

उपाध्यक्ष—अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष कार्य-समिति तथा साधारण सभाओं की बैठकों में अध्यक्ष के अधिकारों और उत्तरदायित्व का पालन करेगे।

मंत्री—सघ का मत्री सघ के उद्देश्यों, नियमों और कार्य-समिति के निश्चयों के अनुसार सघ की विभिन्न प्रवृत्तियों का सचालन करेगा। अध्यक्ष की सहमति से साधारण सदस्यों की तथा कार्य-समिति की बैठक निमत्रित कर सकेगा। सघ की आमदनी और खर्च को सारी व्यवस्था कार्य-समिति की सुचना के अनुसार करेगा। सघ की तरफ से पत्र-व्यवहार, लिखा-पढी तथा प्रकाशनादि करने का उत्तरदायित्व मत्री पर होगा।

साधारण सभा के नियम

१४—साधारण सभा के निम्न लिखित नियम होंगे—

(क) संघ की किसी भी साधारण या असाधारण सभा में कम से कम ७ सदस्यों की उपस्थिति कार्य-साधक संख्या (quorum) समझी जायेगी। कोरम पूरा न होने पर वह सभा स्थगित हो जायेगी, किन्तु जब स्थगित सभा की बैठक होगी, तो उसमें कोरम का बंधन नहीं रहेगा।

(ख) साधारण सभा की सूचना सदस्यों को कम से कम तीन दिन पहले भेज दी जानी चाहिए।

(ग) किसी प्रश्न पर विचार करने के लिये यदि संघ के कम से कम ११ सदस्यों का लिखित पत्र मंत्री के पास साधारण सभा बुलाने के लिए आवेगा, तो मंत्री को उस दिन से १५ दिन के भीतर भीतर साधरण सभा बुलानी होगी। उक्त समय के भीतर वह सभा नहीं बुलावेगा, तो पत्र भेजने वाले सदस्यों को साधारण सभा बुलाने का अधिकार होगा। यदि उस सभा में साधारण सभा की कोरम संख्या पूरी नही होगी, तो वह पत्र (requisition) रद्द हुआ समझा जायेगा। सभा में केवल उन्हीं प्रश्नों पर विचार हो सकेगा, जो मंत्री के पास भेजे हुए पत्र (requisition) में उल्लिखित होंगे।

सदस्यता-विच्छेद

१५—कार्य-समिति को यह भी अधिकार होगा कि वह किसी सदस्य

का नाम सघ को सदस्य-सूची से हटाना चाहे, तो बिना कारण बताये वैसा कर दे।

विधान में संशोधन

१६—सघ के विधान मे परिवर्तन या सशोधन सघ के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों के कम से कम तीन-चौथाई बहुमत से हो सकेगा।

मुखपत्र और अन्य प्रकाशन

१७—(क) 'तरुण जैन' सघ का मासिक मुखपत्र होगा, जिसका उद्देश्य सव की नीति के अनुकूल विचारों का पोषण और प्रचार करना होगा। इसके सम्पादक या सम्पादकों का निर्वाचन सव की कार्य-समिति द्वारा किया जायेगा। पत्र के नियम, नीति और सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी और सत्ता सपादकों के हाथ में होगी परन्तु कार्य-समिति का निर्णय उन्हे सर्वदा मान्य होगा।

(ख) सघ के प्रत्येक सदस्य को मुखपत्र की एक प्रति निःशुल्क मिलेगी।

(ग) सघ समय समय पर जो दूसरे प्रकाशनादि करेगा, उसकी भी एक एक प्रति सव के सदस्यों को आधे मूल्य में प्राप्त हो सकेगी।

सदस्य संख्या........

ता०................ १९४

श्रीयुक्त मंत्री जी,

तरुण जैन संघ

कलकत्ता।
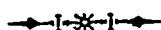
प्रिय महोदय,

मैं 'तरुण जैन संघ' का सदस्य होने का इच्छुक हूं। मैंने संघ के उद्देश्य और नियम अच्छी तरह से पढ़ और समझ लिये हैं। मैं उनका समुचित रीति से पालन करता रहूँगा; और न कर सकने की हालत में संघ की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दूंगा।

इस आवेदन-पत्र के साथ मैं संघ के नियमानुसार प्रवेश-शुल्क के रु० २) भेज रहा हूँ और मासिक शुल्क बराबर देता रहूँगा।

भवदीय,

हस्ताक्षर ________________

पता ________________

____

____